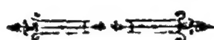
भक्तामर स्तोत्र—

(स्व. जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म. के
प्रवचनों से संकलित विवरण सहित)



सम्पादक

डॉ. प्रेमसिंह राठौड़, भूतपूर्व स्वास्थ्य मंत्री
रतलाम. म. भा. शासन



प्रकाशक

दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर

प्रतियां १०००	मूल्य दो रुपये	वि. सं. २०२७ सन् १९७०

प्रकाशक

लक्ष्मीचन्द तालेड़ा — अभयराज नाहर

अध्यक्ष — मंत्री

दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय
ब्यावर



मुद्रक
जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम.

प्रस्तावना

जैन दिवाकर चौथमलजी महाराज साहब साक्षात् दिवाकर ही थे। उनके व्यक्तित्व में सागर की गभीरता मेरु की उच्चता और आकाश की विशालता साकार हो उठी थी।

मेवाड़, मारवाड़ और मालवा के सुन्दर ग्रामों में बसे भील और किसान तक अहिंसा के गीत गाते हैं और दिवाकरजी के शिष्य के रूप में अपना परिचय देने हुवे गौरव का अनुभव करते है तथा उनकी स्मृति मात्र से ही उनकी आंखें गीली हो जाती हैं।

कौन सा ऐसा राजा, राणा या जागीरदार था जो दिवाकरजी के प्रभाव से अछूता बचा हो? एक बार नहीं, अनेकों बार उन्होंने दिवाकरजी की वाणी को सुना और उन चिर-स्मरणीय शुभ अवसरों की यादगार में किसी न किसी रूप में "अमारी" की उद्घोषणा की। समूचा भारत जिस मेवाड़ के महाराणा की स्तुति करते हुवे नहीं थकता था, वह महाराणा भी दिवाकरजी के गुणगान करते नहीं अघाते थे। उनके तेजस्वी जीवन को अभिव्यक्त करने में इतना ही परिचय पर्याप्त होगा।

डाक्टर प्रेमसिंहजी राठौड़ भू. पू. स्वास्थ्य मंत्री हमारे जाने पहचाने धर्म-प्रेमी सज्जन हैं। गुरू-भक्ति से प्रेरित होकर उन्होने दिवाकरजी के प्रवचनों को लघु-संस्करणों में प्रकाशित कराने का सद्-संकल्प किया है। भक्तामर स्तोत्र की जो सरल पर गम्भीर एवं मौलिक व्याख्या दिवाकरजी ने अपने प्रवचनों में की वह एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रही है। डाक्टर साहब के इस सद् प्रयास को मै आशीर्वाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि दिवाकर दिव्य ज्योति के लघु-संस्करण छपवाने की जो इनकी योजना है, वह शीघ्र कार्यान्वित हो।

—प्रताप मुनि

प्रकाशक का वक्तव्य

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि स्व. जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता श्री चौथमलजी म. सा. के प्रवचनों के आदि में भक्तामर स्तोत्र के श्लोकों का विवेचन रहा करता था उस विवेचन को डाक्टर प्रेमसिंहजी ने सुन्दर ढग से संकलित और सम्पादित किया है। श्री दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय की ओर से इसका प्रकाशन किया जा रहा है। माननीय डाक्टर साहब ने इस रूप में जो निस्वार्थ सेवा की है वह सराहनीय है डाक्टर साहब ने इस सम्पादन द्वारा स्व जैन दिवाकरजी के प्रति अपनी श्रद्धा और साहित्य-अभिरूचि प्रकट की है इसके लिए हम उनके आभारी है। आशा है पाठकगण इससे लाभ उठावेंगे।

निवेदक-

लक्ष्मीचन्द तालेड़ा
अध्यक्ष

अभयराज नाहर
मंत्री



सम्पादकीय

परम पूज्य जैन दिवाकर चौथमलजी महाराज साहब एक महान् आत्मा थे, जिसने अपनी ओजस्वी, सरल, सर्व ग्राह्य, सुबोध वाणी द्वारा अहिंसा का अभूतपूर्व प्रचार किया। आपकी व्याख्यान शैली और बोलने की कला अपने ढंग की निराली ही थी। गहन से गहन विषय को भी सुगमता से जन-जन के मन में जमा देने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर राणा-महाराणा, राजा–महाराजाओं और जागीरदारों ने "अगते पालने" के आदेश निकाले और मूक पशुओं की रक्षा करके उन्हें अभयदान दिया। पूज्य दिवाकरजी का प्रभाव राज महलों से लगाकर गरीबों की झोपड़ियों और भीलों की टापरियों तक था। विना किसी भेद भाव के सभी वर्ग वर्ण और जाति के लोग तथा अमीर और गरीब, आपके प्रवचनों को साथ–साथ बैठकर सुनते थे और जीवन–सुधार के राज मार्ग पर चलते हुए तपश्चर्या में होड़ लगाते थे। हरिजन उद्धार के उनके भागीरथ प्रयत्नों का ही फल था कि हजारों व्यक्तियों ने हिंसक धन्धों को त्याग कर अहिंसा का मार्ग अपनाया। समाज के दलित, पतित और पिछड़े वर्गों के लोगों की आप पर अपार और अटूट श्रद्धा थी।

जैन-दिवाकरजी जैन-एकता के प्रबल–समर्थक थे। कोटा के उनके महत्वपूर्ण कार्य को कैसे भुलाया जा सकता है? उन्हीं की सद् प्रेरणा से पूज्य आचार्य श्री आनन्द सागरजी तथा पूज्य दिगम्बर सन्त श्री सूर्य सागरजी महाराज साहब व दिवाकरजी ने मिलकर एक ही मंच पर सामूहिक प्रवचन दिये। जैन दिवाकरजी ने समन्वय का जो पाठ पढ़ाया वह उनकी अंतिम और अनुपम भेंट थी जो हमेशा हमें खण्डनात्मक और आलोचनात्मक नीति

को त्याग कर मंडनात्मक नीति पर चलते हुए सहयोग सहकार और समन्वय के पथ पर चलने की प्रेरणा देती रहेगी ।

स्व० उपाध्याय प्यारचन्दजी महाराज साहब के सद् प्रयत्नों से दिवाकरजी के प्रवचन "दिवाकर दिव्य-ज्योति" के रूप में आज हमें प्राप्त हैं। प्रसिद्ध समाज-सेवी और दिवाकरजी के अनन्य-भक्त रतलाम निवासी श्री बापूलालजी बोथरा से मुझे दिवाकर दिव्य ज्योति के बीसों भाग प्राप्त हुए। इन्हें मैंने अनेक बार पढ़ा और मनन किया। इनकी उपयोगिता दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। परन्तु साधारण जनता के लिये बीसों भागों को खरीदना एवं उनका अध्ययन करना सम्भव नहीं है।

मुझे गुरुदेव की कृपा से यह प्रेरणा हुई कि छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में दिवाकरजी के प्रवचनों को प्रकाशित कराया जावे। ब्यावर के सुप्रसिद्ध समाज सेवी श्री अभयराजजी साहब नाहर ने मेरे विचारों की पुष्टि की और ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय द्वारा करने का आश्वासन देकर मेरे उत्साह को बढ़ाया है। इस दिशा में प्रथम प्रयास "भक्तामर स्तोत्र" के रूप में प्रस्तुत करते हुवे मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है।

पूज्य दिवाकरजी अपने प्रवचनों का आरम्भ भक्तामर-स्तोत्र के किसी एक श्लोक से करते थे। "भक्तामर-स्तोत्र" का जैन साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। दिवाकरजी ने जो इसकी व्याख्या की है वह बहुत ही उत्तम कोटि की होते हुए भी सरल भाषा में है। यह इसकी एक विशेषता है। यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये भी काफी उपयोगी सिद्ध होगी।

आशा है त्रुटियों के बावजूद पाठक इसे उपयोगी पावेंगे।

विजया-दशमी
सं० २०२७
रतलाम (म प्र)

—डा. प्रेमसिंह



जैन दिवाकर स्व. श्री चौथमलजी महाराज

श्री भक्तामर स्तोत्र

भक्तामर–प्रणत-मौलि–मणि-प्रभाणा–
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा–
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

अन्वयार्थः—भक्तामर प्रणत मौलि मणि प्रभाणाम्-भक्तिमान् देवो के झुके हुए मुकुटो की जो मणिया है, उनकी प्रभा को । उद्योतकं–प्रकाशित करने वाले । दलित पाप तमो वितानम् पापरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाले और । भवजले–ससार समुद्र मे । पततां–पडते हुए । जनानाम्–मनुष्यो को । युगादा-युग के अर्थात् चौथे काल के आदि मे । आलबनम्–सहारा देने वाले । जिनपाद युगम्-श्री जिनदेव के चरण युगलों मे । सम्यक्–भलीभाति । प्रणम्य–प्रणाम करके ।

भावार्थ—नमस्कार करते हुए भक्तिमान देवों के मुकुट में लगी हुई मणियों (रत्नों) की कांति को बढ़ाने वाले जिनके चरण कमल हैं, तथा जो पापरूपी अंधकार का नाश करते है एवं युग की आदि में (कर्मभूमि की प्रवृत्ति के समय) संसार-समुद्र में गिरते हुए अन्य जीवों को जो आधारभूत हुए हैं, उन जिनेश्वर भगवान् श्री ऋषभदेव परमात्मा के दोनों चरणारविन्दों को मै मन, वचन, काय की एकाग्रता पूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥ १ ।

विवेचन—हे प्रभो ! भक्ति के वशीभूत होकर देवता आपको नमस्कार करते हैं। उनके मस्तक पर मुकुट होता है और उस मुकुट में लगी हुई मणियों में चमक होती है। जब देवता प्रभु के चरणों में अपना मस्तक झुकाते है तो भगवान् के चरणों के नाखूनों की कांति उन मणियों पर पड़ती है। नखों में ऐसी प्रबल कांति है कि उससे देवताओं के मुकुट की वह मणियां भी चमक उठती है। इस प्रकार भगवान् का चरण युगल अपनी अपूर्व कांति से देव-मुकुटों की मणियों को भी प्रकाशमान कर देता है।

भगवान् के चरणों की कांति द्रव्यप्रकाशमय तो है ही उनमें भाव प्रकाश भी है। प्रभु के पूनीत चरणों में पापों के अंधकार को नष्ट कर देने की शक्ति है। संसार के समस्त प्रकाशों से सिर्फ बाह्य अंधकार का ही विनाश होता है, किन्तु जिनेन्द्रदेव के चरणों में आंतरिक अंधकार को अंत कर देने का अनन्त बल है।

भगवान के चरण संसार रूपी असीम सागर मे पड़े हुए जीवों के लिये एकमात्र आलंबन रूप है, नौका के समान है। समुद्र में गिरा हुआ व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो बिना आलंबन के वह तट पर आ नहीं सकता। उसे नौका की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जन्म-मरण रूप संसार के किनारे पहुँचने के लिये जिनेन्द्र भगवान् के चरणों का आश्रय लेना अनिवार्य है। उनका आश्रय लिये बिना भव-सागर के पार पहुंचना संभव नहीं है। ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं, उनको ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो ! वीतराग जिनेन्द्रदेव जगत् का उद्धार करने वाले हैं, जगत को तारने वाले है। वे ही जगत के आलंबन भूत है। आपने देखा होगा कि कई कूपों में जंजीरे लटकी रहती हैं। वह इसलिये कि कदाचित् कोई कूप में गिर पड़े तो उसके लिये वह सहारे का काम दे। उनको पकड़ कर कोई भी अपनी रक्षा कर सकता है। वे जंजीरें मृत्यु से बचाने वाली होती हैं। इसी प्रकार जन्म-मरण रूप चतुर्गतिमय इस संसार में पड़े हुए प्राणियों के लिये भगवान ही एकमात्र आधार है। उनकी शरण में जो जाता है, उसका उद्धार हो जाता है। अतएव भगवान् को सर्वोपरि समझ कर उनकी शरण मे रहो। एकनिष्ठ भाव से भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए सांसारिक पदार्थों से मोह हटा लेने की आवश्यकता होती है। जब संसार के समस्त पदार्थों को निस्सार समझ कर आप मोह हटा लेंगे, तभी परमात्मा के प्रति आपकी सच्ची प्रीति हो सकेगी जैसे एक म्यान मे दो तलवारें नहीं रह सकती, उसी प्रकार भगवद् प्रीति और सांसारिक आसक्ति दोनों एक ही अन्तःकरण मे नहीं रह सकती। जो मोह मे फंस जायगा, वह भगवान् को भूल जायगा। मोह जीव को कर्तव्य कर्म की ओर अग्रसर नहीं होने देता बहुतों को तो मोह के प्रभाव से करने योग्य कार्य का विचार ही नहीं होता। किसी का मोह कुछ अंशों में कम हुआ तो चार कदम आगे बढ़ कर रुक जाता है और कोई और आगे बढ़ कर फिर लौट जाता है। एक बार अग्रसर होकर निरन्तर आगे ही आगे बढ़ने वाले भाग्यशाली विरले ही होते है।

भाइयो ! भगवद्भक्ति का फल अनुपम है। इसके इहलोक और परलोक में सर्वत्र सुख और शांति प्राप्त होती है। अगर

आपने भगवान के चरण कमलों का आश्रय लिया तो धीरे-धीरे आप अन्तिम स्थिति भी प्राप्त कर लेंगे। जब आपकी अन्तरात्मा पूर्ण रूप से भगवान् ऋषभदेवजी पर निर्भर हो जायगी, उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने को उद्यत हो जायगी तो अवश्य ही आपका निस्तार होगा।



यःसंस्तुतः सकल वाङ्मयतत्वबोधा-
दुद्भूत बुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

अन्वयार्थः—सकलवाङ्मयतत्वबोधात्-समस्त द्वादशांगरूप जिनवाणी का रहस्य जानने से । उद्भूतबुद्धिपटुभि-जो बुद्धि उत्पन्न हुई, प्रवीण हुए ऐसे । सुरलोक नाथै-देवलोक के स्वामी इन्द्र ने । जगत्त्रितय-चित्तहरै-तीन जगत के चित्त को हरण करने वाले । उदारै-महान् । स्तोत्रं-स्तोत्रो के द्वारा । यः संस्तुतः-जिसकी स्तुति की गई है । तं-उस प्रथम जिनेन्द्रम्-प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव का । किल-आश्चर्य है कि । अहम्अपि-मैं भी । स्तोष्ये-स्तवन करता हूँ ।

भावार्थ—जिनकी स्तुति द्वादशांगवाणी के ज्ञाता देवों के स्वामी इन्द्र ने तीनों जगत के वासियों के चित्त को हरण करने वाले बड़े बड़े स्तोत्रों द्वारा विस्तारपूर्वक की है, उन आदिनाथ भगवान् का स्तोत्र मैं आरम्भ करता हूँ, यह बड़ा आश्चर्य है अर्थात् अपनी लघु बुद्धि से उन महान् आत्मा की स्तुति करने का मेरा साहस हास्यास्पद है ॥२॥

विवेचन—हे प्रभो ! समस्त शास्त्रों के अध्ययन, मनन और चिंतन से उत्पन्न बुद्धि के कारण जो अत्यन्त पटु है, ऐसे शकेन्द्र महाराज ने आपके गुणों की स्तुति की है । वह स्तुति भी कुछ साधारण नहीं थी । तीनों जगत के समस्त प्राणियों के चित्त को हरण करने में समर्थ अत्यन्त उदार एवं उदार भावों से परिपूर्ण

थी। इस प्रकार इन्द्र के सदृश पटु भक्त जिनकी इतनी मनोहर स्तुति कर चुके हैं, मैं भी उनकी स्तुति करने चला हूं। कैसा अतिसाहस है मेरा ?

जिन आदिनाथ प्रभु के एक गुण का वर्णन करने में भी वाणी समर्थ नहीं है, वे अनन्त गुणों से विभूषित हैं। किसका सामर्थ्य है जो उन गुणों का वर्णन कर सके ? एक ग्रन्थकार यथार्थ ही कहते हैं:—

पत्रं व्योम मसी महाम्बुधिसरित्कुल्यादिकानां जलं,
लेखिन्यः सुरभूरूहाः सुरगणास्ते लेखितारःसमे !
आयु सागर कोटयो बहुतराः स्फीता तथापि प्रभो !
नैकस्यपि गुणस्य ते जिन ! भवेत्सामान्यतो लेखनम् !

ग्रन्थकार भगवत् स्तुति करने का संकल्प करने चले, मगर उन्हें पता चला कि मामला बड़ा बेढब है। भगवान् में अनन्तगुण हैं और उनमें से एक गुण की स्तुति करना अर्थात् एक गुण का भी शब्द चित्र अंकित करना कठिन है। तब वे अपनी असमर्थता प्रकट करके ही स्तुति करने लगे। उन्होने कहा-हे जिनदेव, प्रभो ! संपूर्ण अनन्त आकाश को यदि कागज बना लिया, समस्त सागरों, नदियों और सरोवरों आदि के जल को स्याही बना लिया जाय, तमाम कल्पवृक्षों को लेखिनी के रूप में प्रयुक्त किया जाय, स्वर्ग के सब देवों से लेखक के रूप में काम लिया जाय और उनकी आयु बहुत से करोड़ों सागरों जितनी विपुल हो, तब भी आपका एक गुण पूरी तरह नहीं लिखा जा सकता।

ऐसी है परमात्मा के गुणों की महिमा! कहाँ प्रभु के अनन्त गुण और कहाँ साधारण मनुष्य की क्षुद्र-सी शक्ति? प्रश्न हो सकता है कि अगर परमात्मा की स्तुति करना असंभव है तो फिर उसके लिए प्रयत्न ही क्यों किया जाय? असंभव कार्य मे हाथ डालना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मनुष्य संसार की समस्त खाद्य सामग्री नहीं खा सकता फिर भी शक्ति के अनुसार खाता ही है। कोई भी पुरुष संसार की समस्त विद्याओं और कलाओं का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता फिर भी ज्ञान प्राप्त करने के लिये यथा शक्ति प्रयत्न करता ही है। ऐसी बातों में यह नहीं सोचा जाता कि सब खाद्य नहीं खाये जा सकते तो थोड़े क्यों खाये जाय? परिपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता तो अपूर्ण क्यों प्राप्त करूं? तो फिर प्रभु गुणगान व स्तवन के संबंध मे ही ऐसा क्यों सोचना चाहिए? जितना खाया जायगा, और पचाया जायगा, उतने का ही रस बनेगा और उसी परिमाण मे शरीर को पोषण मिलेगा। इसी प्रकार भगवान् के गुणों की जितनी स्तुति करोगे और उससे हृदय को द्रवित करोगे, उतना ही लाभ होगा, उतना ही आत्मा को पोषण मिलेगा। अतएव प्रत्येक भक्त का यही कर्तव्य है कि वह अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार परमात्मा की स्तुति-भक्ति करे और आत्मा का कल्याण करे।

भाइयों! वीतराग प्रभु की स्तुति करने से वीतरागता आती है और वीतरागता आ जाने पर जगत के समस्त दुःख और द्वन्द मिट जाते है। शनैः शनैः पूर्ण वीतरागता प्राप्त हो

जाने पर यह आत्मा भी परमात्मा के पद को प्राप्त हो जाता है। जीवन को निष्कलंक और गुणमय बनाने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य दूसरों के गुणों के प्रति आदरभाव रक्खे और उनके गुण ग्रहण करता रहे। जिसमें नम्रता का गुण है, उससे नम्रता ग्रहण करो, जिसमें सत्यवादिता हो उससे सत्य बोलने का गुण लेलो। जिसमें जो गुण तुम्हें दिखाई दे, उससे वही गुण सीखते और ग्रहण करते जाओ। अपनी प्रकृति को उसी प्रकार बनाते जाओ। यही नहीं, अगर आप में गुण ग्रहण करने की वृत्ति सचमुच जाग उठे तो आप वृक्ष से भी गुण ग्रहण कर सकते हो। देखो वृक्ष कितना सहनशील और उदार होता है? वह पत्थर मारने वाले को भी फल देता है। इसी प्रकार हमें बुराई करने वाले के प्रति भलाई करनी चाहिए।

अरे बंबूल जैसे पेड़ से भी आप चाहें तो शिक्षा ले सकते है? वह सर्दी, गर्मी समान रूप से सहन करके और कांटेदार होते हुए भी धूप से व्याकुल और चलते-चलते थके हुए पथिक को छाया प्रदान करता है और उसके काटे पैर में चुभे हुए काटे को निकालने के काम में आते है।

पात्र सोने का है या मिट्टी का, उससे तुम्हें मतलब नहीं है, तुम तो उसमें रक्खी हुई मोहरों से मतलब रक्खो। मनुष्यों पशुओं, पेड़ो और जड़ पदार्थों से एक-एक, दो-दो गुण लेते लेते तुम असंख्य-अनंत गुणों के स्वामी बन जाओगे। सज्जन पुरुष का काम गुण ग्रहण करना है। दुर्जन दोष ही देखा करता है और उन्हीं का संयम करता रहता है। वह अपने दोषों को तो देखता नहीं, पर दूसरों के दोषों को ही देखा करता है।

कहा है—

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

अर्थात् दुर्जनों की दृष्टि बड़ी अनोखी होती है। उन्हें सरसों के बराबर दूसरों के दोष तो साफ-साफ दिखाई देते हैं, मगर अपने बेलफल के बराबर दोषों को देखते हुए भी नहीं देख सकता है। इस प्रकार अपने दोषों को अनदेखा करने से और पराये दोषों को देखते-देखते मनुष्य दोषों का घर बन जाता है। उसके हृदय मे गुण ठहर नही पाते:—

अयः पिंड इवोत्तप्ते, खलानां हृदये गुणाः ।
पतिता अपि नेक्ष्यन्ते, गुणास्तोयकणा इव ॥

जैसे आग मे तपने से लाल-लाल बने हुए लोहे के गोले पर पानी की कुछ बूंदे छिड़क दी जाएं तो वे दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार पर-छिद्रान्वेषी दुर्जन के हृदय मे लेशमात्र भी गुण नजर नहीं आते।

भाइयो ! सौ बात की एक बात यह है कि अगर आपको सचमुच ही गुणी बनना है तो आप गुणीजनों से प्रेम करो, उनके गुणो के प्रति आदर की भावना व्यक्त करो, गुण ग्रहण का भाव रक्खो और यथाशक्ति गुणों को ग्रहण किये जाओ और भूल कर भी परकीय छिद्रों को मत देखो। अगर आप दूसरों पर दृष्टि डाल कर गुण ही गुण लेते जाएगे तो आपके पास गुणों का अक्षय भंडार हो जायगा। आप अनन्त गुणी बन जाएंगे और अन्त मे परमात्मा का पद प्राप्त कर लेगे।

बुद्धया विनापि विबुधार्चितपादपीठ,
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगत त्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जल संस्थितमिन्दुबिम्ब,
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

अन्वयार्थ:—विबुधार्चित पादपीठ-देवों ने जिनके सिंहासन की पूजा की है ऐसे हे जिनेन्द्र। बुद्धया विना-बुद्धि के बिना। अपि ही। विगतत्रपः लज्जा रहित जो। अहम्-मैं। स्तोतुम् आपका स्तवन करने को। समुद्यतमति तत्पर हुआ हूं सो ठीक है क्योंकि। बाल विहाय-बालक के सिवाय। अन्य-अन्य। क-कौन। जन मनुष्य ऐसा है जो। जलसंस्थितम्-जल में दिखाई देने वाले। इन्दुबिम्बम्-चन्द्रमा के बिम्ब को। सहसा-एकाएक। ग्रहीतुम् पकड़ने के लिए। इच्छति-इच्छा करता है

भावार्थ—देवों द्वारा जिनके सिंहासन की पूजा की जाती है, ऐसे हे जिनेन्द्र ! आपकी प्रार्थना करने के लिये मैं बुद्धिहीन होने पर भी तत्पर हुआ हूं सो भी ठीक है क्योंकि जैसे बालक जल के अन्दर रहे हुए चन्द्रमा के प्रतिबिंब को चन्द्र समझ कर पकड़ने के लिये निरर्थक प्रयत्न करता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्ति एवं बुद्धि का विचार नहीं करते हुए आपकी प्रार्थना करने के लिये तत्पर हुआ हूं ॥३॥

विवेचन:-भाइयो ! आचार्य महाराज अपने को बालक कहते हैं और स्तुति करने के अपने प्रयास को बालचेष्टा समझते है। कहते है कि मै स्तुति ठीक तरह तो नहीं कर सकूंगा, फिर भी कर रहा हूं और ऐसा करने में मुझे कोई लज्जा नहीं है। अपनी शक्ति के अनुसार प्रयास करने में लज्जा क्यो होनी चाहिए ?

जिसे जो कार्य प्रिय है, उसे सम्पन्न करने में प्राणीमात्र संलग्न है। कोई भी तो यह दावा नहीं कर सकता कि वह अपने काम मे पूरी तरह सफल होगा ही। यही बात धर्म-क्रिया के सम्बन्ध मे सोचनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का आचरण और प्रभु स्मरण करना चाहिए। ऐसा करने में किसी प्रकार की लज्जा, शंका या संकोच को हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए।

आचार्य महाराज के कथन से एक बात और ध्यान में आना चाहिए। वह है विनम्रता और लघुता की शिक्षा। वे अपनी कुशलता और विद्वत्ता पर लेशमात्र भी गर्व नहीं करते। आचार्य अपने आपको अत्यन्त लघु प्रकट करते है। यह भक्त होने का लक्षण है। सच्चा भगवद् भक्त कभी अभिमान नहीं कर सकता। वह सदैव अपनी निर्बलता की ओर नजर रखता है और इस कारण निर्मलता की ओर ही अग्रसर हो जाता है। घमंडी मनुष्य अपना विकास नहीं कर सकता और वही वास्तव मे उपहास का पात्र बनता है।

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र शशाङ्क-कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरू प्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पांतकाल पवनोद्धत नक्र चक्रम्,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

अन्वयार्थ--गुण समुद्र-हे गुणो के समुद्र। ते तुम्हारे। शशाङ्ककान्तान्-चन्द्रमा की कान्ति जैसे उज्ज्वल। गुणान्-गुणो को। वक्तुम्-कहने को। बुद्धया-बुद्धि से। सुरगुरुप्रतिमः अपि-बृहस्पति के समान भी। कः कौन पुरुष ऐसा है जो। क्षमः-समर्थ हो, क्योंकि कल्पान्तकाल पवनोद्धत नक्रचक्रम्-प्रलय काल की आंधी से जिसमे मगर-मच्छ उछल रहे हो, ऐसे। अम्बुनिधिम्-समुद्र को। भुजाभ्याम्-भुजाओ से तरीतुम्-तैरने को को वा-कौन पुरुष। अलम्-समर्थ हो सकता है? कोई भी नही।

भावार्थः—हे चन्द्रमा की कान्ति जैसे उज्ज्वल गुणों के समुद्र! आपके गुणों का वर्णन करने के लिये साक्षात् बृहस्पति के समान बुद्धिमान भी कैसे समर्थ हो सके? जिसमे प्रलय-काल की आंधी से उछलते हुए मगर-मच्छ है ऐसे समुद्र को अपनी भुजाओं से तैरने से कौन पुरुष समर्थ हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं। इसी प्रकार आपके गुणों का वर्णन करने मे मैं असमर्थ हूं। ४॥

विवेचन—भगवन्! आप अनन्त गुणों के सागर है और आपके समस्त गुण चन्द्रमा के समान निर्मल है। मेरी शक्ति ही क्या है? देवों के गुरु बृहस्पति के समान बुद्धिवाला भी उन गुणों क

वर्णन करने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रलयकाल का सा तूफान आया हो और तूफान के कारण मगर-मच्छ उद्धत हो रहे हों तो उस समुद्र को क्या अपनी भुजाओं से कोई पार कर सकता है? प्रथम तो शान्त समुद्र भी भुजाओं से पार नहीं किया जा सकता, फिर अगर प्रलयकालीन तूफान से समुद्र में भीषण उबाल आ रहा हो और उसमें रहने वाले मगरमच्छ क्रुद्ध हो रहे हों तो उसका पार करना असम्भव है। इसी प्रकार हे गुणों के सागर! आपके गुणों के कथन करना भी असम्भव है। ऐसे भगवान ऋषभदेवजी हैं उनको ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान् मुनीश,
　　कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः !
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,
　　नाऽभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥५॥

अन्वयार्थः—मुनीश—हे मुनियो के ईश्वर, मैं स्तोत्र करने में असमर्थ हूँ। तथापि—तो भी। तव भक्तिवशात्—तुम्हारी भक्ति के वश से। विगत शक्तिः—शक्ति रहित। अपि—भी। सः अहम्—वह बुद्धिहीन मैं। स्तवं कर्तुं—आपका स्वतन करने के लिए। प्रवृत्त—प्रवृत्त हुआ हूं, सो ठीक ही है, क्योंकि। मृगी—हरणी। प्रीत्या—प्रीति के वश से। आत्मवीर्यम्—अपने पराक्रम को। अविचार्य—बिना विचारे ही। निजशिशोः—अपने बच्चे की। परिपालनार्थम्—रक्षा के लिये। किं—क्या। मृगेन्द्रम् सिंह को। न अभ्येति—नही दौड़ती है ?

भावार्थ—हे मुनियों के ईश ! आपके गुणों का वर्णन करने में असमर्थ होते हुए भी मैं आपकी भक्ति के वश होकर आपका स्तवन करने के लिये प्रवृत्त होता हूँ। जैसे प्रीति के वशीभूत हुई हरणी अपने आत्मबल का विचार न करती हुई, अपने बालक की रक्षा करने के लिये क्या सिंह का सामना नहीं कर बैठती है ? वैसे ही मैं भी आपकी भक्ति से प्रेरित होकर ही प्रार्थना करने को प्रवृत्त होता हूं ॥५॥

विवेचन—हे प्रभो ! मुझमें आपका गुणगान करने की शक्ति नहीं है, फिर भी जैसे हिरनी का सन्तान-प्रेम एक निष्ठ है और उसी प्रकार मेरी आपके प्रति भक्ति भी एक निष्ठ है और उसी के

कारण सामर्थ्य का विचार किये बिना ही आपके स्तवन करने में प्रवृत्त हो गया हूँ। इस प्रकार जिनकी भक्ति से प्रेरित होकर महात्मा पुरुष अपने में विशिष्ट शक्ति का अनुभव करने लगते है और जिनके गुण अनन्त हैं जिनकी पूरी तरह स्तुति करना असम्भव है, उन भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो ! शक्ति हो किन्तु भक्ति नहीं हो तो काम सिद्ध नहीं होता। यही नहीं, वरन् भक्ति के अभाव में शक्ति गलत राह पर चली जाती है। वास्तव मे देखा जाय तो शक्ति एक तीक्ष्ण अस्त्र के समान है। शस्त्र से अपने प्राणों की रक्षा भी की जा सकती है और प्राणों का अन्त भी किया जा सकता है। यदि शस्त्र का दुरुपयोग किया जाय तो उसका होना, न होने की अपेक्षा भी बुरा है। जिसके पास शस्त्र तो है मगर उसे यह मालूम नहीं कि उसका प्रयोग कहां कब और कैसे करना चाहिये वह उससे लाभ के बदले हानि ही उठाएगा। इसी प्रकार जिसके पास शक्ति है, मगर जिसे उसके सदुपयोग एवं दुरुपयोग का पता नहीं है, जो विवेकहीन है और जो गलत तरीके से अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, वह अपनी शक्ति के कारण ही नाना प्रकार के कष्टों का पात्र बनता है।

मनुष्य सातवें नरक में भी जा सकता है और मोक्ष मे भी जा सकता है। उत्थान और अधःपतन की दोनों चरम सीमाएं प्राप्त करने की योग्यता मनुष्य मे है और मनुष्य के सिवाय अन्य किसी में नहीं है। शक्ति जीव को गति प्रदान करती है, आगे की ओर प्रेरित करती है। मगर किस दिशा में,

किस ओर बढ़ना चाहिये, यह विचार उसमें नहीं होता है। यह विचार भक्ति होने पर आता है। जिसके हृदय में शक्ति के साथ भक्ति है, वह योग्य दिशा मे कल्याण की ओर मुंह कर लेगा और शक्ति उसे उसी ओर बढ़ाती चली जायगी। जिसमें भक्ति नहीं है, आसक्ति है, संसार के प्रति अनुरक्ति है, वह अपने अकल्याण की ओर अभिमुख हो जाता है और शक्ति उसे अपनी ओर आगे बढ़ाती है।

इस प्रकार शक्ति ही दोनों को आगे बढ़ाती है। इसका एक ही कार्य है, आगे बढ़ाना। ऐसी स्थिति में यह आशंका ठीक नहीं है कि शक्ति परस्पर विरोधी फल कैसे उत्पन्न करती है। शास्त्र में कहा है:—

जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा।

अर्थात्—जो कर्म में शूर होते है, वही धर्म में शूर होते है। इस वाक्य का आशय यही है कि जिसमें अधिक शक्ति है वही कर्म करने मे शूरवीरता दिखला सकता है। जब उसी में भक्ति आ जाती है तो कर्म करने में लगी हुई शक्ति धर्म की ओर झुक जाती है और वह धार्मिक वीरता को उत्पन्न करने लगती है।

भाइयो! इस कथन का आशय यही है कि आप जब शक्ति की उपासना करें अर्थात् शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करें तब भक्ति को न भूल जाएँ। अगर भक्ति-विहीन शक्ति आपको भी प्राप्त हो गई तो वह आपको अमंगल की ओर, पापों की ओर, मलीनता की ओर, विपत्तियों और व्यथाओं की ओर घसीट कर

ले जायगी। अतएव भक्ति-भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रीति-को हृदय में उत्पन्न करो। शक्ति भक्ति की सखी बनेगी तो तुम्हारे लिए इसी जगत में स्वर्ग का निर्माण कर देगी।

कई लोगों का ऐसा विचार है कि भक्ति में विवेक की आवश्यकता नहीं है। विवेकहीन होकर भी भक्ति हो सकती है, यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। सच्ची भक्ति का उद्गम् ही विवेक से होता है। जो भक्ति विवेक से उद्गत नहीं हुई, वह मनुष्य को अक्सर गलत रास्ते की तरफ मोड़ देती है। भारत के पिछले धार्मिक इतिहास को ध्यान पूर्वक देखने से यह स्पष्टरूप से विदित हो जायगा। भारत मे दासी प्रथा का जन्म कैसे हुआ था? भैंसों और बकरों के गले देवी-देवताओं के आगे बलि क्यों होते हैं? इसका कारण एक मात्र अविवेक ही है। अतएव विवेक प्रसूता भक्ति ही मनुष्य को भगवान् की ओर प्रेरित करती है। उस विवेक को दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन भी कह सकते हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ सच्ची भक्ति होती है। जितने अंशों मे सम्यग्दर्शन है उतने ही अंशो मे शुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना केवलज्ञान दिलाने वाली है और अशुद्ध चेतना नरक की ओर ले जाने वाली है।

किसी की चेतना शुद्ध और किसी की अशुद्ध क्यों होती है? इसका कारण कर्म है। जब जीव को शुद्ध चेतना या सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, तभी उसके भवों की गिनती होती है। भगवान् ऋषभदेव के तेरह ही पूर्वभव गणना में आते हैं। तो क्या तेरह भवों से पहले उनकी आत्मा का अस्तित्व नहीं था अथवा अस्तित्व तो था मगर वह जन्म मरण न करके सदा

एकरूप में स्थित रहती थी ? दोनों में से एक भी बात संभव नहीं है। प्रत्येक आत्मा अनादिकालीन है और वह निरंतर भव-भ्रमण करती रहती है। किन्तु जब तक वह अशुद्ध चेतना से ग्रसित है, उसके भवों की गिनती नहीं की जाती। गणना के योग्य वही भव होते हैं, जिनमें आत्मा शुद्ध चेतना से विभूषित, हो।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम ।
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ॥
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति ।
तच्चारुचाम्रकलिकानिकरैक हेतुः ॥६॥

अन्वयार्थः—अल्पश्रुतम् जिसको शास्त्रो का ज्ञान अल्प है और जो श्रुतवतां—शास्त्र के ज्ञाता पुरुषो के। परिहासध म्—उपहास का पात्र हूं। माम्—मुझको। त्वद्भक्ति-तुम्हारी भक्ति। एव—ही। बलात्—बलपूर्वक। मुखरीकुरुते—वाचाल करती है क्योंकि कोकिल.—कोयल। किल-निश्चय ही। मधौ—वसन्त ऋतु में। यत्-जो। मधुर करौति-मधुर शब्द करती है। तत् चारुचाम्र कलिका निकरैक हेतु—सो उसमे आमृवृक्ष के मौर का समूह ही एक कारण है।

भावार्थः—हे प्रभो मैं अल्पज्ञ हूँ और इस कारण शास्त्र के ज्ञाता पुरुषों के उपहास का पात्र हूं तथापि मेरे हृदय में जो आपकी भक्ति है वही मुझे आपकी प्रार्थना करने के लिये बलात् उसी प्रकार प्रेरणा देती है जिस प्रकार वसन्त ऋतु में कोयल जो मधुर शब्द बोलती है, उसका कारण आम के मौर का समूह ही है। वैसे ही आपकी प्रार्थना करने के लिये आपकी भक्ति ही मुझे वाचाल बनाती है ॥६॥

विवेचन—भाइयों! जिन्होंने भक्तामर स्तोत्र को भली-भांति समझा है, उन्हे ज्ञात है कि यह स्तोत्र कितना सुन्दर, मनोहर और भाव पूर्ण है। इसे समझ कर पढ़ने वाला भक्तिरस में डूब जाता है। उसके हृदय मे भक्ति की विमल धारा प्रवाहित

होने लगती है। स्तोत्र में अर्थ की गंभीरता तो है ही उसके शब्दों का चयन भी अत्यन्त सुन्दर है। तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से इतनी उत्तम रचना करने वाले आचार्य भी अपने को "श्रुतवतां परिहास धाम" अर्थात् श्रुतधरों के सामने हंसी का पात्र कहते हैं। वास्तव में ऐसा कह कर इन्होंने अपनी विनयशीलता पर स्वर्णकलश चढ़ा दिया है और हम सबके समक्ष यह आदर्श उपस्थित कर दिया है कि थोड़ा सा ज्ञान पाकर अहङ्कार मत करो। शास्त्र अपार सागर के समान है। उसमें जितना-जितना अवगाहन करोगे, उतनी उसकी गंभीरता ज्ञात होगी। अतएव जब ज्ञान का अहंकार होने लगे तो अपने से अधिक ज्ञानियों के संबन्ध में विचार करो। उनके साथ अपनी तुलना करो और फिर सोचो कि हमारा ज्ञान कितना अल्प है। अगर थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करके गर्व करने लगोगे तो तुम्हारा विकास रुक जायेगा और अहंकार की वृद्धि से अशुभ कर्म का बंध होगा।

आंतरिक भक्ति एक विलक्षण चीज है। जब मनुष्य सच्ची और गहरी भक्ति में तल्लीन हो जाता है, तो उसे दुनिया का कोई ख्याल नहीं रहता। कोई विरले ही परमात्मा से सच्चा प्रेम कर सकते है। ईश्वरीय प्रेम कितना दुर्लभ है और उसका निभाना कितना कठिन है, यह बतलाने के लिये अलंकारिक भाषा में बड़ा ही सुन्दर कहा गया है:—

प्रेम निभाना कठिन है, सबसे निभता नाहिं।
चढ़ना मोम-तुरंग पर, चलना पावक मांहि ॥

ईश्वर के प्रति हृदय में उत्पन्न हुए प्रेम को निभाना अत्यन्त कठिन है। मोम के घोड़े पर चल कर अग्नि में चलना जितना कठिन है, उतना ही ईश्वर के प्रेम का निर्वाह कर लेना भी कठिन है।

ईश्वर प्रेम मे निर्मलता तब आती है, जब उसमें विषय-विकार का सम्मिश्रण न हो। भोगोपभोग की कामना से पुत्र-पोत्रादि की अभिलाषा से अथवा धन-संपदा के लाभ से ईश्वर का नाम लेना, एक तरह से ईश्वर के नाम पर सौदा है। अन्तःकरण को निष्काम बनाकर ईश्वर के प्रति अनन्य अनुराग धारण करना ही सच्चा ईश्वर प्रेम है।

त्वत् संस्तवेन भवसंततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

अन्वयार्थ—आक्रांतलोकम्-जिसने लोक को ढंक लिया है और जो। अलिनीलम् भ्रमर के समान काला है, ऐसे। शार्वरम्-रात्रि के। अशेषम्-सपूर्ण। अन्धकारम्-अन्धकार को। आशु-शीघ्रता से। सूर्यांशुभिन्नम्-जैसे सूर्य की किरणे नष्ट कर देती है, उसी प्रकार हे भगवन्! त्वत्संस्तवेन—तुम्हारे स्तवन से। शरीर भाजाम्—जीवधारियो का। भवसन्तति सन्निबद्धम्—जन्म-जरा-मरण रूप ससार परपरा से बधा हुआ। पापम्-पाप। क्षणात्-क्षण भर मे। क्षयम्-नाशको। उपैति-प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हे नाथ! आपका स्तवन करने से भव्य प्राणियों के अनेक भवों से चले आते हुए पाप एक क्षण मात्र में ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि सर्वलोक में व्याप्त भ्रमर जैसा काला (रात्रि का) घना अन्धकार सूर्य की किरणों से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, इसी तरह आत्मा के साथ जन्म-जरा-मरण रूप संसार परम्परा से बंधा हुआ पाप जिसे कर्म कहते हैं आपकी प्रार्थना से नष्ट हो जाते हैं।

विवेचनः—प्रभो! आपकी स्तुति करने से जन्म-जन्मान्तर मे अर्थात् अनेक जन्मों से बंधे हुए पापों का क्षण भर में नाश हो जाता है। जन्म जन्मान्तर का पाप किस प्रकार नष्ट

हो सकते हैं ? इस प्रश्न का यहाँ एक उदाहरण देकर उत्तर दिया गया है : संध्या के पश्चात् जब सूर्य अस्त होता है तो चारों ओर अंधकार में समस्त विश्व छिप जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि अंधकार के सिवाय और किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है । मगर पूर्व दिशा में जब सूर्य का उदय होता है तो वह अत्यन्त सघन और सर्वव्यापी अंधकार सहसा नष्ट हो जाता है और सुनहरा प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। सूर्योदय होते ही अंधकार का कहीं पता नहीं चलता और सकल विश्व प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् आदिनाथ की स्तुति करने से जन्म-जन्म के पापों का क्षण भर में नाश हो जाता है। अंधकार मलीनता का प्रतीक है। अतएव आत्मिक मलीनता का पापों के अंधकार के रूप में वर्णन किया जाता है।

भाइयो ! यहाँ आचार्य महाराज ने "भवसंतति सन्निबद्धम्" यह पाप का विशेषण दिया है। इसका शब्दार्थ है— "जन्मजन्मान्तर में बंधा हुआ" आशय यह है कि अनेक जन्मों में बांधे हुए पाप प्रभु की स्तुति से नष्ट हो जाते है। इस कथन के द्वारा यह भी सूचित कर दिया गया है कि आत्मा इस जन्म में नया नहीं उत्पन्न हुआ है। न मालूम कितने जन्म पहले के पाप आत्मा के साथ आते हैं और इस जन्म के किये हुए पाप न जाने कितने जन्मों तक आत्मा के साथ जाएंगे।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि गुलाब जामुन कहने से अर्थात् मिठाई का नाम कहने से क्या मुंह मीठा हो सकता, है ? नहीं। इसी तरह "णमो अरिहंताणं" का जाप जपने से या राम-राम कहने से भी क्या लाभ हो सकता है ?

ऐसा तर्क कहने वाले से कहना चाहिए कि कोई-कोई चीजें ऐसी होती है कि जिनका नाम लेने से मुँह मीठा नहीं होता। किन्तु कुछ चीजें ऐसी भी हैं जिनका नाम लेने से ही मुँह का जायका बदल जाता है। कलाकंद का नाम लेने से मुँह मीठा नहीं होता, किन्तु नीम्बू का नाम लेने से अवश्य ही मुँह में पानी आ जाता है और मुँह का जायका बदल जाता है। इसी प्रकार परमात्मा के भजन से आत्मा का कल्याण होता है।

जैन-शास्त्रों में उल्लेख है कि तीर्थंकर भगवान् जहाँ पधारते हैं, उस जगह के आसपास चार कोस तक कांटे उल्टे हो जाते है। इस सम्बन्ध मे कोई कह सकता है कि तीर्थंकर भगवान का यह अतिशय तो भक्ति के आधिक्य के कारण कल्पित किया हुआ ही प्रतीत होता है। क्योंकि वे कांटे निर्जीव हैं और उन्हें कैसे पता चल सकता है कि तीर्थंकर भगवान् पधारे है तो हम उल्टे हो जाएं?

यह तर्क करने वाले स्थूल बुद्धि के मनुष्य है उन्होंने जगत का सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन नहीं किया है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म वस्तु अधिक प्रभावशाली है और परमाणुबम से भी अधिक सूक्ष्म उद्जनबम में तो और भी अधिक शक्ति है। यह बात आधुनिक विज्ञान ने प्रत्यक्ष साबित करदी है। शास्त्र भी यही कहते हैं। किन्तु पदार्थों की सूक्ष्म शक्तियों का सर्व साधारण को पता नहीं चलता। इसी कारण वे उनके विषय में शङ्काशील रहते है।

एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर क्या असर पड़ता है और
असर पड़ता है, यह बड़ा मनोरञ्जक विषय है। उन असर
ए यह आवश्यक नहीं कि वह पदार्थ सजीव ही हो। किसी
पड़ बनाये और उनके पास कोई ऋतुमती स्त्री निकल गई
पापड़ लाल हो जाते है। उन पापड़ों को कौन सूचना देने
कि तुम लाल हो जाना ? पापड़ निर्जीव है। उनमें चेतना
है। वे किसी भी चेतना को समझ नहीं सकते और न
सोच ही सकते हैं। फिर भी अज्ञातरूप से ही पापड़
वित हो जाते है। मदिरा को क्या भान है कि मै मदिरापान
वाले की चेतना को आवृत करके उन्माद उत्पन्न करूँ ?
भी वह अपना असर दिखलाती है। भोजन भी जड़ है,
भी नहीं मालूम कि मुझे अमुक साहब ने पेट में डाला है
मैं रस बन जाऊँ, रक्त बन जाऊँ आदि। फिर भी वह सात
ओं के रूप मे पलटता है। यही नहीं, वही भोजन आपके
पर चमक बन कर प्रतिबिंबित होता है, आंखों मे तेज
कर झलकता है, विभिन्न इन्द्रियों मे विभिन्न प्रकार की शक्ति
रूप मे काम करता है। फिर भी भोजन को आप सजीव तो
मान सकते ? वह अपनी स्वभाविक शक्ति से ही नाना रूप
बदलता है।

इसी प्रकार विचार करने पर आपको दृष्टि खुल
गी। आप समझेगे कि स्थूल पदार्थ भी एक दूसरे से प्रभावित
रहते है। जब भोजन जैसे स्थूल पदार्थ मे भी अनेक
व उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान् है तो भगवान् के
गान मे क्या कोई प्रभाव न होगा। ? भगवान् के गुणगान मे
यतया दो वस्तुएँ काम करती है—गुणगान के शब्द और

और गुणगान करने वालों की भावना। इस प्रकार भगवान के गुणगान में सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार की शक्तियाँ सन्निहित है। जब अकेली निर्जीव और अकेली सजीव शक्ति भी आश्चर्यजनक कार्य करती है तो दोनों का योग जहाँ मिल जाय वहाँ क्या कमी रह जायगी ? शब्दों में अद्भुत शक्ति है और भावना में भी अपूर्व बल है।

तीर्थंकर भगवान् प्रकृष्टतम पुण्य के धनी होते हैं। उनके पुण्य के प्रभाव से सचेतन और अचेतन दोनों प्रकार की सृष्टि प्रभावित होती है। उसमें तरह-तरह की विशेषताएँ आ जाती है, जो कि साधारण रूप से समझ में नहीं आती। इसी कारण अज्ञान और अविचारक लोग उन पर विश्वास नहीं कर पाते। किन्तु पदार्थों के सूक्ष्म स्वरूप के ज्ञाता जनो के चित में किसी प्रकार का विस्मय उत्पन्न नहीं होता।

भाइयो ! इस विवेचन से आपको समझ में आ गया होगा कि भगवान् के गुणगान के शब्द और गुणगानकर्ता की भावना के योग से आत्मा में अद्भुत प्रभाव उत्पन्न होता है। एक ऐसा आलोक उत्पन्न होता है कि पापों का सघन से सघन अन्धकार भी ठहर नहीं सकता।

मत्वेतिनाथ तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥८॥

अन्वयार्थ—नाथ-हे नाथ ! इतिमत्वा-इस प्रकार पाप का नाश करनेवाला मान कर। तनुधियाअपिमया-थोड़ी भी बुद्धि वाला हूँ, सो भी मेरे द्वारा। इदम्-यह । तव-तुम्हारा । संस्तवनम् स्तोत्र। आरभ्यते आरम्भ किया जाता है सो। तव-तुम्हारे। प्रभावात्-प्रभाव से। सताम्-सज्जन पुरुष के। चेतः-चित्त को। हरिष्यति-हरण करेगा, जैसे कि। नलिनीदलेषु-कमलिनीके पत्तों पर। उद्बिन्दु पानी का बिन्दु ननु-निश्चय से। मुक्ताफलद्युतिम्-मुक्ताफल की शोभा को। उपैति-प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! मै आपके स्तोत्र का प्रारम्भ अल्प-बुद्धि वाला होकर भी करता हूँ, यह मान कर कि यह स्तोत्र आपके प्रभाव से ही सज्जनों के चित्त को हरण करेगा। जैसेकि कमलिनी के पत्र पर गिरा हुआ जल-बिन्दु भी मोती की शोभा को प्राप्त कर लेता है जैसे ही मेरा बनाया हुआ यह स्तोत्र भी आपके प्रभाव से सज्जनों के चित्त को हरण करेगा ॥ ८ ॥

विवेचनः—हे नाथ ! स्तुति को आरम्भ कर देना ही मेरी शक्ति की बात है, समाप्ति करदेना नहीं। कमलिनी के पत्ते पर पड़ा जल का बिन्दु मोती की सी आभा प्राप्त कर लेता है। इसमें जल के बिंदु की कोई विशेषता नहीं है, विशेषता है

कमलिनी के पत्ते की, जिसका संसर्ग पाकर जल का कण भी मोती सरीखा सुहावना प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार मेरे द्वारा रची हुई स्तुति में अगर कुछ सुन्दरता आ गई और वह सत्पुरुषों को रुचिकर हुई तो उसका श्रेय मुझे नहीं आपको ही होगा। मेरी बुद्धि तो इतनी अल्प है कि वह सुन्दर रचना नहीं कर सकती। फिर भी अगर रचना सुन्दर बनी तो वह आपकी महिमा का फल है। आपकी स्तुति होने के कारण ही वह सुन्दर होगी।

हे प्रभो ! आपके गुणग्राम करने वाला पुरुष स्वयं गुणवान बन जाता है। कोई आदमी पहले बहुत दुराचारी हो, बदमाश हो, बाद में भजन करने लगे तो लोग कहते हैं यह पहले दुराचारी था, किन्तु अब अच्छा हो गया है। तो भगवान् का भजन करने के कारण ही वह गुणी बन गया और उसके अवगुण दूर हो गये। पहले उसकी सर्वत्र निंदा होती थी और अब भगवान का भक्त बन जाने पर सर्वत्र प्रशंसा होने लगती है। प्रभवचोर, अर्जुनमाली, वाल्मिकी आदि अनेकानेक उदाहरण शास्त्रों मे मिलते हैं। मतलब यह है कि भगवान के नाम में कुछ ऐसा अपूर्व चमत्कार है कि उसके जपने से और प्रभु की शरण ग्रहण करने से पापी जीव भी पुण्यात्मा बन जाता है।

अपने जीवन-काल में सद्गुणों के सौरभ को विकसित करने के लिए गुण ग्राहक दृष्टि का विकास करना चाहिए। सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं, उनमें कुछ गुण होते हैं और कुछ अवगुण-दोष भी होते हैं। एकान्तगुणमय या एकान्तदोषमय कोई वस्तु नहीं है। इसके अतिरिक्त गुण और दोष के बीच में

निर्णायक रेखा खींच सकना भी सरल नहीं है। वस्तु का एक ही धर्म किसी काल में गुण प्रतीत होता है और दूसरे काल में वही दोष बन जाता है। शीत काल मे जब कड़ के की सर्दी पड़ रही हो तो ऊनी वस्त्र गुणकारक होते हैं। वही ग्रीष्म ऋतु आने पर दोष रूप बन जाते है।

इसके सिवाय किसी वस्तु का एक ही धर्म एक व्यक्ति के लिए गुण तो दूसरे व्यक्ति के लिए दोष बन जाता है। एक बीमार के लिए दही प्राणघातक हो सकता है और दूसरे के लिए वही जीवनदाता भी हो सकता है। यह बात तो सभी सरलता से समझ सकते हैं।

ऐसी स्थिति में गुण और दोष की विवेचना करने का काम आसान नही है। एक नीतिकार कहते है:—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति।
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः॥

भाइयों! जैसी दृष्टि तैसी सृष्टि। गुणीजन, जो गुणों की परख करना जानते है, वही गुणों को ठीक ठीक पहचान सकते है। निर्गुण क्या जाने गुणों की महत्ता को? उसके लिए गुण भी अवगुण बन जाते है। एक श्रीमन्त उदार हृदय है। खुले हाथों परोपकार के कार्यों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करता है। विवेकवान उसकी उदारता की सराहना करते है। परन्तु किसी कृपण से उसके विषय में पूछिए। वह कहेगा-अजी उड़ाऊ है, उड़ाऊ! इसके हाथ मे शनीचर हैं। पैसा ...

नहीं। बाप दादाओं की पूंजी को उड़ाकर बाबा बन जाने की तैयारी कर रहा है।

भाइयों! अपनी आत्मा को गुणवान बनाना है तो भगवान् के गुणों का कीर्तन करो, चिंतन करो और फिर यह अनुभव करने का प्रयत्न करो कि वही गुण मेरी आत्मा में विद्यमान है। भगवद् गुणों के साथ आत्मिक गुणों की समता का विचार करोगे तो धीरे-धीरे आत्मा को ही परमात्मस्वरूप अनुभव करने लगोगे।

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हंति ।
दूरे सहस्त्रकिरणः कुरूते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकास भाञ्जि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—सहस्त्र किरणः-सूय तो । दूरे दूर ही रहकर प्रभाएव—उसकी प्रभा ही । पद्माकरेषु-तालबो मे । जलजानि—कमलो को । विकाश भाञ्जि-प्रकाशमान कर देती है, उसी प्रकार हे जिनेन्द्र ! अस्तसमस्तदोषम्-अस्त हो गये हैं समस्त दोष जिसके अर्थात् दोषरहित ऐसा । तव तुम्हारा । स्तवनदूरे आ त म्-स्तोत्र तो दूर ही रहे । त्वत्सकथ अपि-चर्चा ही अथवा तुम्हारी इस भव तथा पर भव सम्बन्धी उत्तम कथा ही । जगत म्-जगत के जीवो के । दुरितानि-पापो को । हंति-नाश कर देती है ।

भावार्थ—हे जगत्पति ! समस्त दोषरहित आपके स्तोत्र का तो कहना ही क्या ? आपके जीवन की पवित्र कथा भी जगत के जीवों के पापों को दूर करने मे समर्थ है । जैसे सहस्त्र-किरण (सूर्य) के दूर रहने पर भी उसकी प्रभा (आभा) ही पद्माकर (तालाबों) मे रहे हुए कमलों को विकसित करने में समर्थ हो जाती है । इसी तरह आपकी जीवन कथाएं भी पाप का नाश करके आत्मा को उर्ध्वगामी बना देती है ।९॥

विवेचन—प्रभो ! समस्त दोषों से रहित आपके स्तवन की तो बात ही क्या है, आपकी कथा भी जगत के जीवां के समस्त पापों को नष्ट कर देती है । सूर्य तो दूर रहा, सूर्य की प्रभा ही सरोवर मे उगे हुए कमलों को विकसित कर देती है ।

देखो ! भगवान् लोकाकाश के अंतिम प्रदेशों में, निरंजन पद में विराजमान है, यहां से करीब सात राजू की ऊंचाई पर है और हम लोग यहां है। सूर्य और चन्द्र वगैरह उतनी दूरी पर नहीं है, जितनी दूरी पर भगवान है। लेकिन स्वच्छ हृदय से अगर भगवान का स्मरण किया जाय तो स्मरणकर्ता के समस्त दोष दूर हो जाते है। कोई कह सकता है कि भगवान् तो इतनी दूर है फिर उनका स्मरण करने से चिन्ताए दूर कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि सूर्य कितनी ऊंचाई पर है, फिर भी जब वह प्रकाशमान होता है, तो पृथ्वी पर स्थित कमल खिल जाते हैं। सैकड़ो योजन दूर होने पर भी जैसे सूर्य कमलों को विकसित कर देता है उसी प्रकार भगवान् अपने भक्तों की आत्मा को आत्मिक गुणों से विकसित कर देते हैं। ऐसे भगवान् ऋषभदेवजी का हमारा बार-बार नमस्कार हो।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान वीतराग है। वे स्तुति करने वाले पर प्रसन्न नहीं होते और स्तुति न करने वाले पर अप्रसन्न नही होते। इसके अतिरिक्त अपनी आत्मा के गुणों का विकास आप ही किया जाता है। कोई किसी की आत्मा को न उठा सकता है, न गिरा सकता है। ऐसी स्थिति में भगवान् अपनी स्तुति करने वाले भक्तों की चिन्ताए दूर करके उन्हें सुखी किस प्रकार बना सकते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि भगवान् किसी को सुख दुःख नहीं देते हैं, तथापि भगवान् की सेवा करने से दुःख दूर हो जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक जीव अपने सुख का कर्ता स्वयं ही है तथापि निमित्त कारण अलग होते हैं।

आत्मिक सुख की प्राप्ति में वीतराग भगवान् निमित्त है। भगवान् की विनय-भक्ति और स्तुति करने से हृदय निर्मल होता है और हृदय की निर्मलता ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यों आत्मिक सुख, शान्ति, निश्चिन्तता आदि की वृद्धि भी होती जाती है। यह भगवान् के नाम की महान् महिमा है। इसी आशय से यहां यह बतलाया गया है कि भगवान जगत् के जीवों के समस्त पापों का नाश कर देते हैं। यह कथन निमित्त कारण की मुख्यता को लक्ष्य में रखकर ही समझना चाहिए।

भाइयो ! नेत्रों की ज्योति बढ़ाने के लिए लोग अंजन का सेवन करते है, किन्तु अंजन जड़ पदार्थ है। वह अपने सेवन से प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकता। उसे यह भान नहीं होता कि मैं सेवन करने वालों की आंखों की ज्योति बढ़ा दूं। फिर भी क्या सेवन करने वालों को लाभ नहीं होता ? क्या उनके नेत्रों की ज्योति नहीं बढ़ जाती ? अवश्य बढ़ती है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् यद्यपि पूर्ण निष्काम है, तथापि जो भक्त उनका सेवन करते है, उनकी भक्ति करते है, उनको शुभ फल प्राप्त होता ही है। जैसी भक्त की भावना होगी, उसके अनुसार वह फल प्राप्त कर लेगा।

संक्षेप मे तात्पर्य यह है कि प्रभु की स्तुति या भक्ति करने से हृदय निर्विकार होता है। हृदय जब निर्विकार हो जाता है तो उसमे पाप का उदय नहीं होता। इस कारण प्रभु पाप के नाशक है। प्रभु की स्तुति और भक्ति बहुत प्रबल है।

भाइयो ! ऋषभदेव को हुए असंख्य वर्ष हो चुके है मगर आज उनकी कथा कहते-सुनते तो ऐसा लगता है मानो अभी

हुए हों। कहां तक उनकी तारीफ करें? अपना कल्याण करना हो तो भगवान् की कथा अवश्य सुनो।

जिन हरिकथा सुनि नहीं काना,
श्रवण-रंध्र अहिभवन समाना।

तुलसीदासजी कहते हैं कि जिन्होंने भगवान् की कथा नहीं सुनी, उनके कान सांप के बिल के समान हैं। वे कान विषय विकार-रूपी विषधर के प्रवेश के लिए है। जो कान प्रभु की कथा नहीं सुनते वे किस काम के? उनका होना निष्फल है। इसी प्रकार जिसने गुरुदेव के दर्शन नहीं किये, संसार से विमुख, विषय-विकारों से विरक्त, संयम की साधना में सदैव संलग्न, जिन भगवान् के कहे हुए मार्ग पर अग्रसर होने वाले महाव्रतधारी गुरुओं के दर्शन नहीं किये तो नेत्र निष्फल है। वे हाथ पैर किस काम के है जो गुरुभक्ति के काम न आयें। पैरों से चलकर दर्शन करने न गये और दर्शन होने पर हाथ न जोड़े तो उन हाथ पैरों का क्या फल निकला? और वह मस्तक किस मतलब का है जो देव और गुरु के चरणों में झुकता न हो?

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवंतमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

अन्वयार्थः—भूवन भूषण भूतनाथ—हे जगत के भूषणस्वरूप भगवन्। भुवि—ससार मे । भूतैः गुणैः—सत्य तथा समीचीन गुणो के कारण। भवन्तम्-आपको। अभिष्टुवन्तः-स्तवन करने वाले। भवतः—आपके ही। तुल्याः-समान। भवन्ति—होते हैं, सो इसमे। अति अद्भुतं न-अधिक आश्चर्य नही है। ननु—क्योकि। नाथ—हे सब जीवो के नाथ। य.—जो कोई स्वामी। इह इस लोक मे। आश्रितम्-अपने आश्रित पुरुष को भूत्या-विभूति करके। आत्मसमं—अपने समान। न करोति नही करता है। तेन—उस स्वामी से। किंवा-क्या लाभ।

भावार्थ.—हे जगत भूषण स्वरूप भगवन ! आपके गुणों का कीर्तन करने वाला आपके समान हो जावे, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि अन्य सामान्य जन भी अपने आश्रितों को अपने बराबर बना लेते हैं ऐसा प्रत्यक्ष में देखा जाता है तो आपके गुणों का स्मरण कीर्तन करने वाला आप जैसा बन जाये तो आश्चर्य ही क्या ? ॥१०॥

विवेचन—भाइयो ! आचार्य महाराज ने यहां बतलाया है कि सच्चा स्वामी वही है जो अपने आश्रितों को अपने ही समान बना ले। कितना उदार और कितना ऊंचा दृष्टिकोण है। मालिक को चाहिए कि वह मजदूरों की मेहनत से जो

धनोपार्जन करता है उसमें मजदूरों को साझीदार बनाए। जैसे आप सुख मे रहना चाहते हैं, उसी प्रकार कमाकर देने वाले श्रमिको को भी सुख में रहने योग्य बनावें वह स्वामी आदर्श नहीं कहला सकता जो स्वयं खा-खा कर अपना पेट फुलाता जाता है और मजदूरों को भूखा मारता है। अगर आचार्य द्वारा प्रदर्शित आदर्श का अनुसरण किया जाय तो देश को महान ल'भ हो सकता है। श्रमिकों पर कल्याण भाव रखने का परिणाम यह होगा कि स्वामी और सेवक के बीच स्नेह की सुधा बहने लगेगी और दोनों वर्ग एक दूसरे के सहायक बन जाएंगे।

जैन धर्म में अहिंसाव्रत के पाँच अतिचारों में 'अति भारारोपण' को भी एक अतिचार माना है। इस अतिचार का संबंध सिर्फ पशुओं के ही साथ नहीं, वरन् मनुष्यों से उनके सामर्थ्य से अधिक काम लेना भी अतिभारारोपण है और यह भी हिंसा के अन्तर्गत है। श्राव· का कर्तव्य है कि वह अगर स्वामी हो तो अपने आश्रितजनों से उनकी शक्ति से अधिक काम न ले।

इस सिद्धान्त का भी आज यथावत् पालन नहीं होता है। इसी कारण राज्य की ओर से तरह-तरह के नियम बनाये गये है और बनाये जा रहे हैं। अगर धर्मशास्त्र के आदेश पर लोग चलते और स्वेच्छा से अतिभारारोपण का त्याग कर देते तो क्यों सरकार को यह कानून बनाने पड़ते? मगर स्वार्थी लोग धर्म शास्त्र की आज्ञा को ठुकराते है और जब सरकार यही नियम बना देती है तो विवश होकर उसे मानते है।

स्वामी वर्ग धर्म शास्त्र की आज्ञा पर चल कर श्रमिकों

के कार्य का समय निश्चित कर देते तो वह करूणा की, अहिंसा की प्रेरणा समझी जाती। इससे स्वामी और सेवक के बीच बडी सहानुभूति फैलती और स्नेह की वृद्धि होती। सरकारी कानून से बाध्य होकर करना तो वही पड़ता है मगर वह स्नेह की मधुरता चली जाती है। यही नहीं इसमें दोनों वर्गों में कटुता की वृद्धि होती है। इस विषय में जैन धर्म का पथ प्रदर्शन एकदम स्पष्ट है और बड़ा ही हितकर और स्पृहणीय है।

भाइयो ! जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। अतएव निमित्त मिलने पर वह परमात्मा बन सकती है। भगवान् ऋषभदेव आत्मा की उस शक्ति के आविर्भाव मे निमित्त कारण बनते है। अतएव यहां कहा गया है कि ऋषभदेव की भक्ति करने से भक्त स्वयं भगवान बन जाता है।

पारस पाषाण लोहे को सोना बना देता है। प्रश्न यह है कि वह रांगे को सोना क्यों नहीं बनाता ? लोहे को ही क्यों बनाता है ? उत्तर यह है कि लोहे में सोना बनने की शक्ति है और रांगे मे वह शक्ति नहीं है। इसी प्रकार जिसमें परमात्मा बनने की शक्ति है अर्थात् जिसमे भव्यत्व शक्ति है, वही परमात्मा की उपासना के द्वारा परमात्मा बन सकता है। जो अभव्य है अर्थात् रांगे के समान है वह परमात्मा नहीं बन सकता। इसमे परमात्मा की कोई त्रुटि नहीं है, क्योकि आखिर उपादान स्वयं शक्तिहीन है तो निमित्त कारण क्या करे।

यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि

पारस लोहे को तो सोना बनाता है, किन्तु पारस नहीं बनाता अर्थात् वह अपने समान नहीं बनाता। किन्तु परमात्मा का यह असाधारण गुण है कि वे अपने भक्त को पूरी तरह अपने ही समान बना लेते हैं।

भाइयो ! अरिहन्त भगवान् की स्तुति करने से उत्कृष्ट लाभ की प्राप्ति होती है। उत्तराध्ययन शास्त्र में प्रश्न किया गया है कि भगवान् का स्तवन और स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं 'भगवान् की स्तुति करने से जीव को ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप बोधि की प्राप्ति होती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप बोधि जिसको प्राप्त हो जाती है, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। कदाचित् उसके कर्मों की स्थिति अधिक हो तो वह कल्प-विमान में उत्पन्न होता है और वहां के सर्वोत्कृष्ट सुख भोग कर आगामी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष विलोकनीयम्
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जल निधेरसितुं क इच्छेत् ॥११॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! **अनिमेषविलोकनीयम्**-अनिमेषनैत्रो से सदा देखने योग्य। **भवन्तम्** आपको। **दृष्ट्वा**-देख करके। **जनस्य**-मनुष्यो के। **चक्षु:**-नेत्र। **अन्यत्र**-अन्य स्थ नो मे। **तोषम्**-सतोष को। **न उपयाति**-नही प्राप्त होते है। सो ठीक ही है, क्योकि। **शशिकरद्युतिदुग्ध सिन्धोः**-चन्द्रमा की किरणो के समान उज्ज्वल है शोभा जिसकी, ऐसे क्षीर-समुद्र के। **पयः**-जल को। **पीत्वा**-पी करके। **कः**-ऐसा कौन पुरुष है जो। **जलनिधे:**-समुद्र के। **क्षारंजलम्** खारे पानी। **असितुम्**-पीने को। **इच्छेत्**-इच्छा करता है।

भावार्थ—हे अनिमेष (एक) दृष्टि से विलोकनीय प्रभो! आपको एक बार देख लेने के बाद भव्य प्राणियों के चक्षु कहीं भी सन्तोष नहीं पाते है। जैसे एक बार भी जिसने क्षीर समुद्र के जल का आस्वादन कर लिया है, फिर खारे जल की वह इच्छा करेगा? नहीं कभी नहीं। इसी तरह एक बार भी जिसने आपके दर्शन कर लिये है फिर उसके नयन संसार मे अन्यत्र कहीं भी तृप्त नहीं हो सकते ॥११॥

विवेचन:—प्रभो! पूर्वोपार्जित परम प्रकृष्ट पुण्य के परिपाक से आपका रूप अनुपम है। जो एक बार आपको देख लेता है, वह यही चाहने लगता है कि हमारी आंखों को पलकें

नहीं झपे तो अच्छा हो। पलक गिरने से भगवान् के रूपामृत का पान करने में बाधा उपस्थित होती है। इसके सिवाय जो एक बार भगवान के दर्शन कर लेता है वह फिर दूसरों को देखे तो सन्तोष नहीं होता है। भगवान् का लोकोत्तर दिव्य-रूप सौन्दर्य लोगों को ऐसा बना देता है कि वह उस पर मुग्ध ही बना रहता है। उसके नेत्रों में वही रूप समाया रहता है।

जैसे कोई ग्रामीण बाजरे के सोगरे (रोट) खाते-खाते शहर में जाय और वहां उसे बादाम की चक्कियां मिले; स्वादिष्ट दही-बड़े आदि मिले तो क्या वह फिर बाजरे के सोगरे खाना पसन्द करेगा ? नहीं। इसी प्रकार भगवान् के रूप को देख लेने वाला किसी दूसरे के रूप को पसन्द नहीं करता।

भाइयो ! विद्वानों का कथन है कि मनुष्य के चेहरे से ही उसके शील स्वभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। उसका आचार-विचार कैसा है, यह बात उसका चेहरा ही प्रकट कर देता है। मनुष्य का चेहरा उसके आंतरिक जीवन का विवरण देने वाली पुस्तिका है।

इसका आशय यह है कि मनुष्य के अन्तःकरण में जैसी भावनाएं होती है, उन्हीं के चित्र चेहरे पर अंकित हो जाते हैं। इस ख्याल को सामने रखकर अगर हम भगवान् तीर्थंङ्कर के चेहरे की कल्पना करें तो प्रतीत होगा कि उनके समान सुन्दर, सौम्य और मनोहर अन्य कोई हो नहीं सकता क्योंकि उनके सरीखे लोकोत्तर गुण किसी अन्य पुरुष में होना असम्भव है। यही कारण है कि भगवान् के मुख पर दृष्टि पड़ते ही वह वहीं

इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में यह है कि प्रथम तो भगवान् का औदारिक शरीर ही संसार के सर्वोत्कृष्ट परमाणुओं से बना है। उन उत्कृष्ट परमाणुओं के कारण भगवान का मुख अद्भुत आभा से विभूषित होता है। पुद्गलों का परिणाम बड़ा ही विचित्र होता है। आप जो भोजन करते है, उसमें एक अंश ऐसा भी होता है जो नेत्रों की ज्योति के रूप में परिणत होता है। पेट में डालने के पहले आप भोजन की परीक्षा करेंगे भोजन का विश्लेषण करेंगे, उसे पीस पीस कर देखेंगे तो भी वह ज्योति आपको नहीं मिलेगी। कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होगी। किन्तु पेट में पहुंचकर वही भोजन नेत्र को ज्योति बन जाता है। इसका कारण यह है कि आत्मा की शक्ति भोजन को विविध रूपों में परिणत करती है।

आत्मा की शक्ति की सहायता से रूपान्तरित होने वाले पुद्गल ही शरीर का निर्माण करते हैं। इस सबंध मे एक बात और ध्यान देने योग्य है। अन्तःकरण में यदि प्रशस्त विचार हैं, शुभ भावनाएं लहराती रहती है, मृदुता, दया, क्षमा, सरलता आदि सात्विक गुण-संपत्ति विद्यमान हैं तो पुद्गलों का परिणमन भी प्रशस्त होता है। चेहरे पर उसी प्रकार का प्रतिबिंब अंकित हो जाता है। मनोवैज्ञानिक विद्वान कहते है—"वक्त्रं वक्ति हि मानसम्" अर्थात् मनुष्य का चेहरा ही बतला देता है कि उसके मन मे क्या है? मनुष्य का मुख उसके अन्तःकरण का प्रतिबिंब है। मन मे क्रोध की ज्वाला धधक रही होगी तो चेहरे पर लालिमा आ जाएगी। शोक होगा तो चेहरा भी मन की सहानुभूति में उदास और खिन्न बन जायगा। मन में दया

की तरंग उठेगी तो नैत्र सजल होएंगे। इसी प्रकार मन में पाप का निवास होगा तो चेहरे पर भयानकता दिखलाई देगी। पवित्र और उज्ज्वल भाव होगा तो तो चेहरे पर सौम्यता अंकित हो जायगी। इसी सिद्धांत के आधार पर भगवान के परमोत्तम मुखसौंदर्य पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि भगवान् की अतिशय पावन, करुणापूर्ण, विशुद्ध और कल्याणमयी भावनाएं भी भगवान् के मुखमण्डल को अतिशय सुन्दर रूप प्रदान करती है। उनकी अलौकिक भावनाएं उनके चेहरे पर अंकित होकर उसे अलौकिक सुन्दर बना देती है। भगवान् की जन्म-जन्मान्तर की पावन भावनाओं ने उनके मुखमण्डल को ऐसा बना दिया है कि चन्द्रमा भी उसके सामने फीका दिखाई देता था। फिर उस असाधारण रूप को देख कर कौन दूसरे रूप को पसन्द करेगा।

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वम् ,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम् ।
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—त्रिभुवनैक ललाम भूत-हे तीन लोक के शृंगार। यै-जिन। शान्तरागरुचिभिः – शांत भावों के छायारूप। परमाणुभिः - परमाणुओ से। त्वम्–तुम। निर्मापित बनाये गये हो। खलु–निश्चय करके। ते–वे। अणवः – परमाणु। अपि-भी। तावन्त-एव–उतने ही थे। यत्-क्योकि। ते समानम् तुम्हारे समान। रूपम्-रूप। पृथिव्याम्-पृथ्वी मे। अपरम्–दूसरा। न हि-नही। अस्ति–है।

भावार्थ—हे त्रिभुवन के श्रृङ्गार! इस संसार में शांतराग को उत्पन्न करने वाले तेजस्वी परमाणु इतने ही थे कि जिनसे आपके शरीर का निर्माण मात्र ही हुआ, इसलिए इस संसार में आपके समान रूप किसी का हो ही नहीं सकता ॥१२॥

विवेचन—भाइयो! पूर्वकाल में भगवान ऋषभदेवजी राजा थे। उन्होंने संसार के सर्वश्रेष्ठ वैभव का परित्याग करके दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा लेकर श्रेष्ठ करनी की और तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने के बीस बोलों का सेवन किया। उन्होंने जो भी क्रिया की, किसी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर नहीं की। उनकी अभिलाषा यह नहीं थी कि मै तीर्थङ्कर बनूं, फिर भी क्रिया का फल तो प्राप्त होता ही है। कामना हो या न हो, क्रिया का फल मिले बिना नहीं रहता। बल्कि कामना रहित

होकर यदि धर्म क्रिया की जाती है तो उसका फल और भी उत्तम मिलता है। फल की कामना क्रिया को दूषित बना देती है। प्रभु ऋषभदेव ने आत्म-कल्याण की भावना रख कर सर्वश्रेष्ठ क्रिया की तो उन्हें सर्वश्रेष्ठ फल की प्राप्ति भी हुई। वे इस काल के आदि तीर्थंकर हुए। उन्हें ऐसा शारीरिक सौंदर्य प्राप्त हुआ कि उसकी तुलना होना ही संभव नहीं है।

भाइयो ! भगवान् ऋषभदेव का शरीर ऐसे असाधारण परमाणुओं से बना था कि उनके शरीर को देखने वालों को भी शान्ति प्राप्त होती थी। उनका शरीर अद्वितीय रूप से सुन्दर था।

किसी पात्र में रक्खी हुई वस्तु बाद में नजर आती है, पात्र पहले ही नजर आ जाता है। इस नियम के अनुसार शरीर संपदा अच्छी हो तो पता चल जाता है कि यह कोई महान् आत्मा है। भगवान् की शरीर संपदा अपूर्व और अद्भुत थी। उनके दर्शन करने मात्र से दर्शक के चित्त पर गहरी छाप पड़ती थी। उनके समक्ष पहुँचने पर स्वतः मस्तक नम्रीभूत हो जाता था। भगवान् की शरीर मुद्रा का वर्णन करते हुए एक जैन कवि ने सुन्दर कल्पना की है। वे कहते हैं:—

सोहइ जस्स सुसंगय-उभयंसखुलंत कुन्तलकलावा।
मुत्ती सुवन्नवन्ना सकज्जलग्ग दीव सिहा ॥
जस्स पणामा पावइ पलयं पउरा वि विग्घसंघाओ।
तस्स रिसहस्स पढमं नमामि पयपंकयं पयओ ॥

—सुर सुन्दरी चरित्र-१ गा-३-४

भगवान् ऋषभदेव की मुद्रा सुवर्ण वर्ण की थी। उनका समस्त शरीर स्वच्छ सोने के समान दमकता था। उनके दोनों कंधों पर अत्यन्त संगत और घुंघराले बालों के गुच्छे लटकते थे। इस प्रकार उनके सुनहरे शरीर पर काले-काले केश ऐसे दिखाई देते थे जैसे दीपक की शिखा के अग्रभाग पर कज्जल हो।

जिसको प्रणाम करने से विशाल से विशाल पापों का समूह भी नष्ट हो जाता है, उन ऋषभदेव प्रभु को मैं सबसे पहले अत्यन्त सावधान होकर प्रणाम करता हूँ।

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
निःशेष निर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलंकमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे नाथ ! सुरनरोरगनेत्रहारि–देव, मनुष्य और नागों के नेत्रों को हरण करने वाले तथा। निःशेषनिर्जित जगत्त्रितयोपमानम् तीन लोकवर्ती सपूर्ण उपमान को जीतने वाला। क्व–कहा तो। ते-तुम्हारा। वक्त्रम्–मुख और। क्व–कहा। निशाकरस्य–चन्द्रमा का। कलंक मलिनम्–कलंक से मलिन रहने वाला। बिम्बम् मंडल। यत्–जो कि। वासरे–दिन मे। पाण्डुपलाश कल्पम्–पलाश अर्थात् ढाक के पत्ते के समान पीला होता है।

भावार्थः—हे देव, दानव व नरों के नेत्रों को हरण करने वाले विभो ! कहां तो आपका मुखारविन्द जिसको उपमा देने के लिए स्वर्ग, मृत्यु और पाताल मे कोई पदार्थ ही नहीं है, और कहाँ चन्द्रमा का प्रतिबिंब। क्योंकि संसार मे उत्तम मुखाकृति वालो को ही चन्द्रमा की उपमा दी जाती है, परन्तु आपके मुखारविन्द की उपमा मे चन्द्रमा भी नहीं ठहर सकता, कारण चन्द्रमा का बिंब तो कलंक सहित और दिन के समय सूखे हुए पलाश के पत्तों की तरह पीला पड़ जाता है और आपका मुखारविन्द तो सदैव एकसा रहता है।

विवेचनः—भाइयो ! यहाँ भगवान् के बाह्य सौंदर्य का वर्णन करके उनकी स्तुति की गई है। इस वर्णन में एक महत्व-

पूर्ण और रहस्यमय कारण भी है। शास्त्रों में चार प्रकार के ध्यान बतलाये गये हैं— आर्तध्यान, रौद्रध्यान धर्मध्यान, और शुक्लध्यान। इन चारों मे से पहले के दो ध्यान अप्रशस्त है . वे पापध्यान कहलाते है । धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त ध्यान हैं और इन ध्यानो के प्रभाव से आत्मा का अभ्युदय होता है। इन दोनों मे से शुक्ल ध्यान के चार भेद है। इन सब का विस्तार पूर्वक विवेचन करने के लिए बहुत-सा समय चाहिए। यहाँ केवल इतना बतला देना ही काफी होगा कि शुक्ल ध्यान के पहले के दो भेद प्रायः पूर्व शास्त्रों के वेत्ताओं को ही होते हैं और अगले दो भेद केवली भगवान् को होते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र मे भी कहा है:—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः परे केवलिनः।

आशय यह है कि शुक्ल ध्यान इतनी उच्च श्रेणी का ध्यान है कि वह ऊंची कक्षा पर पहुँचे हुए महात्माओं को ही हो सकता है। साधारण साधकों को उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार चार ध्यानों मे से दो ध्यान सर्वथा त्याज्य है और शुक्ल ध्यान को पाना सर्व साधारण के लिए अशक्य है। यह धर्मध्यान ही सर्व साधारण साधको के लिए कल्याणकारी है। धर्मध्यान के चार भेद है— पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इनमे से जो रूपस्थ ध्यान है उसमे अरिहंत भगवान् की परम शान्त अलौकिक, दीप्तिमय, वीतराग मुद्रा को अपने हृदय मे स्थापित करके, स्थिरचित्त से ध्यान किया जाता है। अगर भगवान् की मुखमुद्रा का वर्णन न किया जाता तो महात्मा,

संत, रूपस्थ ध्यान को किस प्रकार कर सकते। शास्त्रों के इस वर्णन के आधार पर ही रूपस्थ ध्यान किया जाता है।

रूपस्थ ध्यान करते-करते जब साधक दृढ़ता प्राप्त कर लेता है; तब वह धर्म ध्यान के चौथे भेद में अर्थात रूपातीत ध्यान में प्रवेश करता है। रूपातीत ध्यान में रूपरहित, निर्मल निरंजन, निराकार सिद्ध परमात्मा का ध्यान किया जाता है।

अब इस कथन को समझा जा सकता है कि भगवान् के आत्मिक गुणों का ध्यान करने से पहले उनके बाह्य-स्वरूप को हृदय में स्थापित करके ध्यान करना आवश्यक है। इस ध्यान में सुविधा उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही तीर्थङ्कर भगवान् की शरीर-संपत्ति का वर्णन किया गया है।

भाइयो! प्रभु के ध्यान में अद्भुत-शक्ति है। जब परमात्मा के शुद्ध स्वरूप को अपने अन्तःकरण मे स्थापित करके तन्मयता, एकरूपता, अभिन्नता का चिन्तन किया जाता है, तो आत्मा में अनिर्वचनीय आनन्द की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगती है। उस अलौकिक, अद्भुत, अनूठे और अनुभवगम्य आनन्द के आगे सकल जगत के राज्य का सुख तुच्छ अतितुच्छ प्रतीत होता है। विषय जन्य उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सुख भी उसके सामने नगण्य है। उस अनुपम आनन्द की अनुभूति होने पर आत्मा अमरत्व का अधिकारी बन जाता है।

मगर उस आनन्द की अनुभूति अनायास नहीं हो जाती। उसके लिए भी साधना की आवश्यकता होती है। हृदय को शुद्ध बनाने की आवश्यकता होती है। जिसका अन्तःकरण

कषायों के मल से मलीन है, तृष्णा की आग से अशान्त है, वह उस अलौकिक रस का पान नहीं कर सकता। जिसे उस असीम सुख के सागर में अवगाहन करके परम शान्ति का अनुभव करना है, वह सम्यक्त्व प्राप्त करके उस वीतराग धर्म का आचरण करे-जिसका विशाल महल पांच व्रतों पर खड़ा हुआ है।

सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप
शुभ्रागुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर नाथमेकं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

अन्वयार्थः – त्रिजगदीश्वर–हे तीन लोक के ईश्वर। तव–तुम्हारे। सम्पूर्ण मण्डल शशांक कलाकलाप शुभ्रागुणाः–पूर्णिमा के चन्द्रमंडल की कलाओ सरीखे उज्ज्वल गुण। त्रिभुवनम्–तीन भुवन को। लंघयन्ति–उल्लघन करते हैं अर्थात् तीनो लोको मे व्याप्त है। ये–जो गुण। एक–एक अर्थात् अद्वितीय। नाथम्–तीन लोक के नाथ को। संश्रिताः–आश्रय कर रहे हैं। तान्–उन्हे। यथेष्टम् स्वेच्छानुसार। संचरतः–सब एक जगह विचरण करने से। कः कौन पुरुष। निवारयति–निवारण कर सकता है रोक सकता है।

भावार्थ—हे नाथ! पूर्णिमा की ज्योत्सना के समान जिन निर्मल गुणों ने आपका आश्रय लिया है, वे स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों को पार कर जाते है अर्थात् उन गुणों का अवरोध रोक करने वाला तीनों लोकों मे कोई नहीं है।

इसका फलितार्थ यह भी होता है कि—हे जगत्पति! आपका यश त्रिलोक मे व्याप्त हो रहा है, जिसका अवरोध करने वाला प्रतिद्वन्द्वी संसार मे अन्य कोई भी नहीं है ॥१४॥

विवेचन—भाइयो! संसार गुण-दोषमय है। सत्य और असत्य यहाँ दोनों आदिकाल से है और अनंतकाल तक रहेंगे। सत्य का विरोध करने वालों की कमी नहीं है। दया, दान,

शील, तप आदि दिव्य गुणों का विरोध करने वाले भी हैं। मगर उनके द्वारा विरोध करने के कारण इन गुणों की सचाई नहीं मिट सकती। शीलवती सीता के मत्थे पर कलंक का टीका मढ़ने की कोशिश की गई, किन्तु आखिरकार जो सचाई थी, वह सामने आ ही गई। आशय यह है कि सद्‌गुणों में कस्तूरी की तरह एक अनोखी प्रकार का सौरभ होता है। वह सौरभ फैलता है अवश्य फैलता है और फैले बिना रह नहीं सकता। सद्‌गुणों की फैलती हुई सुगन्ध दबाने से दब नहीं सकती।

भगवान ऋषभदेव और अन्य समस्त तीर्थंकर सर्वज्ञानी या पूर्णज्ञानी हुए हैं। जैसे हवा लगने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार अपूर्ण ज्ञानी का ज्ञान भी कुसंगति आदि कारणों से बुझ जाता है, अर्थात् मिथ्यात्व उत्पन्न हो जाने पर ज्ञान मिथ्यारूप में परिणित हो जाता है। परन्तु पूर्णज्ञानी कभी अज्ञान-मिथ्याज्ञानी नहीं बनता, क्योंकि वह समस्त आत्मिक विकारों के दूर होने पर प्रकट होते हैं। पूर्णज्ञान सर्वथा विशुद्ध, शाश्वत और निरावरण होता है।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि-
नींतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पांत कालमरूताचलिताचलेन
किं मंदराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे प्रभो ! **यदि**-यदि । **त्रिदशांगनाभिः** देवांगनाओ द्वारा । **ते**–तुम्हारा । **मनः**-मन । **मनाक्अपि** किंचित भी । **विकारमार्गम्**-विकार मार्ग को । **न नीतम्**–नही प्राप्त हुआ तो । **अत्र**–इसमे। **किम**-क्या **चित्रम्**-आश्चर्य है । **किम्**–क्या । **कदाचित्**-कभी । **चलिताचलेन**-कपित किये हैं पर्वत जिसने ऐसे । **कल्पांत कालमरूता**–प्रलयकाल के पवन से। **मन्दराद्रिशिखरम्**–सुमेरू पवत का शिखर । **चलितम्**-चलायमान हो सकता है ? कभी नहीं ।

भावार्थः—हे प्रभो ! इसमें आश्चये ही क्या है जो स्वर्ग की अप्सरायें भी आपके मन को विकार मार्ग की ओर खींच नहीं सकीं । जैसे प्रलयकाल का पवन अनेक पहाड़ पर्वत आदि को धराशायी कर देता है किन्तु वही प्रचंड वायु क्या मेरु पर्वत के शिखर को भी कंपित करने में समर्थ है ? नहीं । इसी तरह उन अप्सराओं ने अन्य अनेक ऋषि मुनियों को अपने स्थान (व्रत) से भले ही पतित कर दिये हों, परन्तु वे आपको तो न डिगा सकीं ॥१५॥

विवेचन—भाइयो ! संसार में प्राणिमात्र को संकट में डालने वाला दारुण दुःख देने वाला, आवागमन के चक्र में फंसाये रखने वाला और दुर्दशा करने वाला काम विकार ही

मुख्य है। यह भोग विलास आत्मा का प्रबल शत्रु है। क्या देवता, क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी आदि तिर्यंच सभी इस कामविकार से ग्रसित हैं। बड़े-बड़े शूरवीर, हजारों, लाखो और करोड़ों पर शासन करने वाले, काम विकार के गुलाम बन कर अपने जीवन को नष्ट कर डालते हैं।

काम-वासना सबसे प्रबल वासना है। इसी कारण से उसके परिणाम स्वरूप घोर अति घोर दुःखों का जन्म होता है। संसार के इतिहास पर नजर डालिये तो पता चलेगा कि काम-वासना की बदौलत बड़े बड़े लोमहर्षक कांड हुए हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली, प्रचंड पराक्रम के धनी और शूरवीर योद्धा सम्राट भी इसके चंगुल मे फंस कर बुरी मौत मारे गये। लंका का प्रतापी राजा रावण काम-वासना का शिकार हुआ यह तो जगत् प्रसिद्ध ही है भीम के द्वारा कीचक की मृत्यु किस प्रकार हुई थी ? द्रौपदी के सौंदर्य ने उसके अन्तःकरण मे आग प्रज्वलित कर दी और उसी आग में कीचक भस्म हो गया। कितने उदाहरण दिये जाय और किस-किस के नाम गिनाए जांय। कामिनियों के लिए इस भूतल पर असंख्य युद्ध हुए है और असंख्य योद्धाओं का रुधिर पानी की तरह बहा है। काम-वासना के फलस्वरूप अंत में रोने वालों के आंसू एकत्र किये जाय तो अनेक सागरों से क्या कम होंगे ?

एक विद्वान् ने कामजनित दोपों का इस प्रकार उल्लेख किया है—

दोषाणामाकरः कामो गुणानाञ्च विनाशकृत्।
पापस्य च निजो बन्धुरापदां चैव संगमः ॥

अर्थात् काम समस्त दोषों की खान है और समस्त सद्-गुणों का विनाशक हैं। पापों का सहोदर भाई है और आपत्तियों विपत्तियो को लाने वाला है।

संसार में सर्वत्र काम-वासना की आग सुलग रही है औरों की बात छोड़िये एकेन्द्रिय जीव-वृक्ष, बेल वगैरह भी इसके प्रभाव से प्रभावित है। कहा भी है—

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः,
शोकं जहाति बकुलो मधुसीधुसिक्तं।
आलिंगितः कुरबकः कुरुते विकास-
मालोकितस्तिलक उत्कलितो विभाति॥

अर्थात् स्त्री के पैर की ठोकर खाकर अशोक वृक्ष विकसित हो जाता है, स्त्री के मुख के कुल्लों को पाकर बकुल खिल जाता है। स्त्री का आलिंगन पाकर कुरबक वृक्ष विकास को प्राप्त होता है और स्त्री की दृष्टि पड़ने से तिलक खिल उठता है। इससे प्रतीत होता है कि एकेन्द्रिय वनस्पति के जीव भी काम-वासना से मुक्त नहीं है। काम-वासना को चरितार्थ करने के लिए लोगों ने अनेक उपाय निकाले हैं। तरह तरह के बहाने खोजे जाते है। कहा है:—

जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ?

अर्थात् कई एक अज्ञानी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि जैसे फोड़े को दबा कर मवाद निकाल देने से थोड़ी देर बाद शान्ति

का अनुभव होता है इसी प्रकार समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ समागम करने से थोड़ी देर मे ही शान्ति हो जाती है। अतएव इस प्रकार समागम करने से दोष कैसे हो सकता है ?

कामासक्तजनों के इस मन्तव्य पर शास्त्रकार कहते है—

एवमेगे उ पासत्था मिच्छादिट्ठी अणारिया।
अज्झोववन्ना कामेहि पूयणा इव तरूणए ॥

सूत्र कृताग, १,३-१३

अर्थात् इस प्रकार स्त्री-समागम को निर्दोष बतलाने वाले पुरुष पासत्था है—आचार से ढीले है, मिथ्यादृष्टि है और अनार्य है। जैसे पूतना डाकिनी स्तन पीने वाले बालकों पर आसक्त रहती है, उसी प्रकार यह अनार्य पुरुष कामभोगों में आसक्त है।

भाइयो ! कहने का आशय यही है कि काम-वासना ने व्यापक रूप धारण कर रक्खा है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय मनुष्य और देवता भी इस भयानक आग से जलकर आत्मा के सद्‌गुणों को भस्म कर रहे है। यह आग बड़ी बुरी तरह प्राणियों को जला रही हैं। इस आग की यह विशेषता है कि इसमे जल-कर भी लोग जलन का अनुभव नही करते बल्कि शान्ति समझते है। यह आग सबसे पहले प्राणी के विवेक को ही नष्ट करती है और फिर उसे हित-अहित का भान नहीं रहता .

जिन भगवान् ऋषभदेव ने कामरूपी प्रचंडतम रिपु को नष्ट कर दिया, उन्होंने समस्त असाधारण सद्‌गुणों को प्राप्त कर लिया उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

निर्धूमवर्तिरपवर्जित तैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटी करोषि।
गम्यो न जातु मरूतां चलिताचलानाम्
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

अन्वयार्थ—नाथ–हे नाथ। त्वम्–तुम। निर्धूमवर्ति–धूआ और बत्ती रहित। अपवर्जित तैलपूरः–तेल के पूर रहित जो। चलिताचलानाम्-पर्वतो को चलायमान करने वाले। मरूताम्–पवन के। जातु न गम्यः-कदाचित भी गम्य नही है, ऐसे। जगत्प्रकाशः–जगत को प्रकाशित करने वाले। अपर अद्वितीय, विलक्षण। दीप दीपक। असि हो। क्योकि आप इदम्-इस। कृत्स्नम्–समाप्त। जगत्त्रय-तीनो लोक को। प्रकटी करोति–प्रकट करते है।

भावार्थ—हे नाथ ! आप संसार को प्रकाशित करने के लिये अपूर्व दीपक है। क्योंकि अन्य दीपकों की बत्ती से धूंआ निकलता है, परन्तु आपकी वृत्ति निर्धूम यानि निर्दोष है। अन्य दीपकों में तो तेल की आवश्यकता रहती है, परन्तु आपके लिये उसकी भी जरुरत नहीं है। वे दीपक तो सीमित क्षेत्र में ही प्रकाश करते है; परन्तु आप तो त्रिभुवन को प्रकाशित करते हैं तथा अन्य दीपक तो साधारण वायु के झोंके से ही बुझ जाते हैं, परन्तु आपका प्रकाश तो प्रलयकाल के पवन से भी लोप नहीं होता है, आपकी ज्ञान-ज्योति सदाकाल अखंड ही रहती है।१६।

विवेचनः—भाइयो ! जरा हवा के स्वभाव पर विचार कीजिए। वह दीपक को तो बुझा देती है, परन्तु किसी जंगल मे अगर दावानल सुलग रहा हो तो उसे ज्यादा प्रज्वलित कर

देती हैं। क्या ऐसा ही स्वभाव दुनिया के लोगों का नहीं है? दुनिया के लोग अन्याय और न्याय का विचार नहीं करते। गरीब अगर ठीक रास्ते पर होगा तो भी उसे दबा देंगे और धनवान् अगर गलत रास्ते पर चलेगा, सैकड़ों गलतियां करेगा तो भी उससे दब जाएंगे और उसका साथ देंगे।

भाइयो! जैसे दीपक अंधकार को मिटाकर उजाला करता है, उसी प्रकार ज्ञान मनुष्य को रोशनी में लाता है। रोशनी न हो तो किसी पदार्थ को ढूंढने में कठिनाई होती है और रोशनी हो तो वस्तु फौरन मिल जाती है। इसी प्रकार ज्ञानवान् आत्मा सत्य-असत्य को तत्काल समझ लेता है। जिस आत्मा ने अपने आपको सत्यरूप में जान लिया और अशुभ क्रियाओं को त्याग कर शुभ क्रियाओं में लगा दिया, बस वही स्वयं प्रकाशमय बन गया ज्ञान और सदाचरण से आत्मा में चिरकाल से संचित वासना-जनित विकार नष्ट हो जाते हैं।

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः
सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र लोके ॥१७॥

अन्वयार्थ.—आप। न कदाचित्—न तो कभी। अस्तम्-अस्त को। उपयासि—प्राप्त होते है। न राहुगम्य॰-आपको राहु भी ग्रस नही सकता और न-न। अम्भोधरोदर निरुद्ध महा प्रभाव.—बादल भी आपके महाप्रताप को रोक सकता है और। युगपत-एक समय मे। सहसा सहज ही। जगन्ति तीनो जगत को आप। स्पष्टीकरोषि-प्रकाश मे लाते है या साक्षात्कार करते है इस प्रकार। मुनीन्द्र हे मुनीन्द्र। लोके-लोक मे आप। सूर्यातिशायि महिमा असि-सूय की महिमा को भी उल्लघन करने वाली महिमा धारण करने वाले है।

भावार्थ.—हे मुनीन्द्र! आप विलक्षण प्रकार के सूर्य हैं। क्योंकि यह जो सूर्य प्रतिदिन उगता है, और अस्त भी होता है, उसे राहु भी ग्रसता है तथा इसके प्रकाश को बादल भी रोक देते हैं, परन्तु आपके प्रकाश को न तो कोई बादल ही रोकते, न कभी अस्त ही होता और न कोई राहु ही ग्रसता है, अपितु सदा काल अखड ही रहता है अर्थात् आपका केवलज्ञान अप्रतिपाती, सादि, अनन्त और शाश्वत है। १७।

विवेचन:—हे महाप्रभु! आपको किस वस्तु की उपमा दी जाय? हमारे पास उपमा देने योग्य एक सूर्य ही है, वही सबसे अधिक तेजस्वी और प्रकाश का पुंज है, किन्तु विचार

करने पर विदित होता है कि सूर्य और आप में बड़ा अन्तर है। सूरज प्रतिदिन संध्या के समय अस्त हो जाता है, मगर आपको अस्त हो जाने का काम नहीं है। कभी कभी सूर्य को राहु ग्रस लेता है और उसकी ज्योति दब जाती है। मगर आपके केवलज्ञान और केवलदर्शन की अनन्त ज्योति सदैव समान रूप से झिलमिल-झिलमिल होती रहती है। आपके ज्ञानदर्शन को ढकने की शक्ति संसार मे नहीं है। इसके सिवाय बादल भी आड़े आकर सूर्य के प्रभाव को रोक देते है मगर आपकी दिव्य-ज्योति को रोक लेने की शक्ति किसी में नहीं है।

सूर्य में और आपमे एक बड़ा अन्तर और भी है। सूर्य एक साथ संपूर्ण विश्व को प्रकाशित नहीं कर सकता। संपूर्ण विश्व की बात जाने दे, सिर्फ जम्बू द्वीप को ही लें तो उसे भी सूर्य पूरी तरह प्रकाशित नहीं कर सकता। जम्बू द्वीप का एक भाग सूर्य के द्वारा प्रकाशित होता है तो दूसरे भाग में अंधेरा छाया रहता है। मगर आप एक साथ सपूर्ण विश्व को प्रकाशित करते रहते हैं। तीनों लोक आपके केवल ज्ञान की ज्योति में उद्भासित् होते है। अतएव हे मुनियों के नाथ ! आपकी महिमा सूय से भी ज्यादा है। फिर आपको किस वस्तु की उपमा दी जाय ?

भाइयो ! संसार में सूर्य से अधिक प्रकाश वाला और कोई पदार्थ नहीं है। किन्तु सूर्य का बिम्ब जड़ है और उसका प्रकाश भी जड़ ही है। जड़ होने के कारण वह जड़ पदार्थों को ही प्रकाशित कर पाता है। जड़ पदार्थों के भी दो भेद हैं— रूपी और अरूपी। सूर्य बिम्ब रूपी है। रूपी होने के कारण

उसमें रूपी वस्तुओं को ही प्रकाशित करने की शक्ति है। अरूपी वस्तु को वह प्रकाशित नहीं कर पाता। किन्तु भगवान् का ज्ञान दर्शन का प्रकाश आत्मिक गुण है वह चेतन स्वरूप है और अरूपी है। अतएव वह चेतन और अरूपी वस्तुओं को भी उसी प्रकार प्रकाशित करता है जैसे जड़ और रूपी वस्तुओं को।

सूर्य जड़ और रूपी पदार्थों को पूरी तरह प्रकाशित नहीं कर सकता। आप सूर्य के प्रकाश में जब किसी चीज को देखते हैं तो सिर्फ उसका उपर-उपर का भाग ही देखते हैं, भीतरी भाग को नहीं देख सकते। कल्पना कीजिए, एक मनुष्य का शरीर आपने देखा। शरीर में बहुत सी वस्तुएं सम्मिलित हैं। उपर की चमड़ी, भीतर की चमड़ी, मांस, रूधिर, चर्बी आदि आदि। मगर आप सूर्य के प्रकाश में क्या-क्या देख पाते हैं? सिवाय उपरी चमड़ी के सूर्य आपको कुछ भी नहीं दिखला सकता। उस चमड़ी का भी उपरी भाग ही आप देख पाते हैं, भीतरी भाग नहीं। फिर चमड़ी के ढके हुए भाग का तो सूर्य दिखलाता ही नहीं है।

अब जरा और आगे बढ़ कर सोचिए। सूर्य के प्रकाश ने मनुष्य के शरीर में से सिर्फ चमड़ी को, चमड़ी में से भी उपरी भाग को प्रकाशित किया है मगर क्या वह चमड़ी के पूर्ण स्वरूप को प्रकाशित कर पाया है? उत्तर मिलेगा, नहीं, चमड़ी का केवल रूप ही सूर्य से प्रकाशित होता है। मगर क्या चमड़ी रूप ही है? नहीं उसमें रूप के साथ रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है और दूसरे-दूसरे गुण भी है। मगर सूर्य इनमें से किसी भी गुण को प्रकट नहीं करता।

इस सूक्ष्म विचार की गति यहीं नहीं अटक जाती। वह और भी आगे बढ़ती है और ज्यों-ज्यों विचार की गति आगे-आगे बढ़ती जाती है विचार गंभीर होता चला जाता है। विचार की गंभीरता के साथ ही साथ सूरज के प्रकाश की असमर्थता और संकीर्णता भी मालूम हो जाती है। मगर आपको इतनी गंभीरता की ओर न ले जाकर संक्षेप में इतना ही कहना काफी होगा कि भगवान् के ज्ञान मे और सूर्य मे उतना ही अंतर है जितना सूर्य मे और जुगनु मे होता है। इसमे कम नहीं अधिक ही अन्तर है। भगवान् का ज्ञानमय प्रकाश चेतन-अचेतन रूपी-अरूपी, भीतरी-बाहरी, सभी वस्तुओं को, सब वस्तुओं के सब गुणों को प्रकाशित करता है। संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो लोकोत्तर प्रकाश से छिपी रह सके। ऐसी स्थिति में आचार्य महाराज ने भगवान की महिमा अगर सूर्य से भी अधिक कही है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है।

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारम् .
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्वशशांकविम्बम् ॥१८॥

अन्वयार्थः - यत्–जो । नित्योदयम्–सदा उदय रूप रहता है। दलित मोहमहान्धकारम्–मोहरूपी महान् अन्धकार को नष्ट करता है। न राहुवदनस्य- न राहु के मुख के गम्यम्-योग्य है और। न वारिदानाम् न बादलो के गम्य है अर्थात जिसे न तो राहु ग्रसता है और न बादल ढकते है और जो। जगत् जगत को। विद्योतयत् -प्रकाशित करता है ऐसा है हे भगवन् ! तव–तुम्हारा। अनल्पकान्ति-अधिक कान्ति वाला। मुखाब्जम्-मुख कमल। अपूर्व शशांक बिम्बम्-विलक्षण चन्द्रमा के बिम्बरूप। विभ्राजते शोभित होता है।

भावार्थः—हे प्रभु ! आप विलक्षण प्रकार के चन्द्र हैं। यह आकाश स्थित चन्द्र तो सदा उदित नहीं रहता, परन्तु आप क्षायिक भाव से सदा ही उदित है और मोहरूपी अन्धकार का नाश करते है। यह चन्द्र तो राहु से और बादलों से आच्छादित हो जाता है, परन्तु आपने तो आच्छादित करने वाले कर्मों का पहले ही उच्छेद कर दिया है। यह चन्द्र तो घटता बढ़ता रहता है यानि कला घटती बढ़ती है परन्तु आपकी कला (ज्ञान) तो सदा एक सी है। अतः आप ही इस जगत् के अपूर्व चन्द्र हैं॥१८॥

विवेचनः—भाइयो ! भगवान् को चन्द्रमा की उपमा क्यों दी जाती है ? इसका कारण यह है कि जैसे चन्द्रमा शीत-

लता प्रदान करने वाला है, उसी प्रकार भगवान् भी शीतलता अनन्त शान्ति के प्रदाता हैं। शीतलता उच्चकोटि का गुण है। दुनिया किसी चीज को जलाने के लिए आग का उपयोग करती है, किन्तु भगवान कर्मों को भस्म करने के लिए शीतलता से काम लेते हैं। किसी को मारने के लिए क्रोध की आवश्यकता होती है. मगर कर्म शत्रुओं का समूल संहार करने के लिए क्रोध का भी संहार कर देना पड़ता है। शीतलता के द्वारा ही कर्मों का नाश किया जाता है। भगवान् ने असीम क्षमा भाव धारण करके ही समस्त कर्म-शत्रुओं का विनाश किया है। क्षमा-शीतलता मे बड़ी शक्ति है। शत्रु कितना ही गर्म होकर क्यों न आया हो, कितनी ही वचनरूपी चिनगारियां छोड़ रहा हो, और क्रोध की आग से तमतमा रहा हो, अगर सामने वाला शीतलता पकड़ ले अर्थात शान्ति धारण कर ले तो उसे शांत होना ही पड़ता है। कहा है—

क्षमा शस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति ?
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

अर्थात् जिसके हाथ में क्षमा का शस्त्र हो उसका कोई भी दुष्ट क्या बिगाड़ सकता है ? पानी मे पड़ी हुई आग अपने आप ही शान्त हो जाती है। आशय यह है कि क्षमा की प्रबल शक्ति के सामने दूसरी कोई शक्ति टिक नहीं सकती। जैसे पानी मे गिरी हुई आग अपने आप नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार क्षमा के सामने दुर्जनता आदि दुर्भाव भी स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ।
निष्पन्नशालिवन शालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१६॥

अन्वयार्थः—नाथ-हे नाथ। युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु आपके मुखरूपी चन्द्रमा से अन्धकार के नष्ट हो जाने पर। शर्वरीषु–रात्रियो मे शशिना चन्द्रमा से। वा-अथवा। अह्नि-दिन मे। विव वता-सूर्य से। किम्-क्या ? जीवलोके–ससार मे। निष्पन्नशालिवनशालिनी-धान्य के खेतो के पक चुकने पर। जलभारनम्रैः-पानी के भार से झुके हुए। जलधरैः-बादलो से। कियत्कायम्-क्या प्रयोजन सिद्ध होता है अर्थात् कुछ नही।

भावार्थ—हे नाथ ! जहाँ आपका मुखारविंद विद्यमान है, वहाँ रात्रि मे चन्द्रमा और दिन में सूर्य की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि इस लोक में आनन्ददाता शाली (धान) जब पक जाती है, तब जलभार से झूम-झूम कर आने वाले बादल का कोई प्रयोजन नहीं रहता। यानि उनकी कोई चाह नहीं करता। इसी तरह जहाँ आपका प्रकाशमय मुखारविन्द विद्यमान है, वहाँ सूर्य और चन्द्र की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती ॥१६॥

विवेचनः—आचार्य महाराज ने भगवान ऋषभदेवजी के मुख को चन्द्रमा की उपमा दी है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे चन्द्रमा ज्योतिषी देवों में इन्द्र माना गया है, उसी प्रकार

भगवान् समस्त जिनों में इन्द्र है, इसी कारण उन्हें जिनेन्द्र कहते हैं। चन्द्रमा को बड़ी विशेषताए यह है कि वह अत्यन्त सौम्य हाता है, दर्शकों के चित्त को आह्लाद पहुँचाता है और प्रकाश भी करता है। इसी प्रकार भगवान् की वीतरागमयी, निर्विकार मुखमुद्रा भी अतीव सौम्य और भव्य जीवों के चित्त में आह्लाद उत्पन्न करने वाली होती है। उनके मुख पर सात्विकता की पराकाष्ठा दिखलाई देती है। चन्द्रमा सिर्फ द्रव्य (पौद्गलिक) अंधकार को नष्ट करता है। किन्तु भगवान् के मुखचद्र से निकलने वाले वचनो की किरणें भाव-अंधकार को नष्ट करती है। चन्द्रमा के विषय में एक कवि कहते हैं—

लालयन्तमरविन्दवनानि, द्यालयन्तमभितो भुवनानि।
पालयन्तमथ कोककुलानि, ज्योतिषां पतिमहं महयामि ॥

अर्थात् ज्योतिषियों का पति–चन्द्रमा अरविंदों (कमलों) के वन को विकसित करता है, चारों ओर से संपूर्ण लोक को उज्ज्वल बना देता है और कोक-पक्षियों का पालन करता है।

चन्द्रमा के इस वर्णन के साथ भगवान की विशेषताओं का मिलान किया जा सकता है। जैसे चन्द्रमा कुमुदों को विकसित करता है, उसी प्रकार भगवान् अन्य जीवों क अन्तःकरण में अपने दर्शन मात्र से अनिर्वचनीय आनन्द जगा देते है। यही नहीं, उनकी पवित्र और पीयूषवर्षिणी वाणी से आत्म-स्वरूप का भान होता है और जिसे आत्मा के स्वरूप का भान हो जाता है, वह आत्मिक आनन्द के अथाह सागर मे गोते लगाने लगता है। चन्द्रमा समस्त लोक को उज्ज्वल बना

देता है तो भगवान् लोकोत्तर धर्म का प्रकाश करके जन समूह के अज्ञान, मिथ्यात्व आदि दोषों को दूर करके लोक को पावन बना देते है। चन्द्रमा अगर कोक-कुल का पालन करता है तो भगवान् जीवदया का उपदेश देकर प्राणिमात्र का पालन करते हैं। 'सव्वे जीव न हन्तव्वा' अर्थात् किसी भी जीव का हनन नहीं करना चाहिए। यह भगवान् का प्रधान उपदेश है। इस प्रकार चन्द्रमा की अपेक्षा भी भगवान् की उत्कृष्टता सिद्ध होती है।

ऐसे लोकोत्तर ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले और उपदेशामृत की वर्षा करने वाले भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्ही को हमारा बार-बार नमस्कार है।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे नाथ ! कृतावकाशम्-किया है अनन्त पर्यायात्मक पदार्थो का प्रकाश जिसने, ऐसा। ज्ञानम् केवलज्ञान। यथा—जैसा। त्वयि—आप मे। विभाति-शोभायमान है। तथा—वैसा। हरिहरादिष—हरिहरादिक। नायकेषु नायको मे। नैवम्—नही ही है। ठीक ही है, क्योंकि। यथा—जिस प्रकार से। तेजः—प्रकाश। स्फुरन्मणिषु स्फुरायमान मणियो मे। महत्वम् गौरव को। याति—प्राप्त होता है। एवंतु—वैसा तो। किरणाकुलेऽपि-किरणो से व्याप्त अर्थात चमकते हुए भी। काचशकले काच के टुकडे मे नही होता।

भावार्थ—हे नाथ ! ज्ञान भी आपका आश्रय पाकर जो महत्व प्राप्त करता है, वह हरिहरादि देवों के आश्रय से नहीं है। जैसे तेज, स्फटिक मणि का जो महत्त्व है, वह कांच के टुकड़े का नहीं होता है।२०।

विवेचन—आचार्य महाराज फरमाते है कि भगवन् ! जैसा विस्तृत ज्ञान आपकी आत्मा में शोभायमान है वैसा अन्य हरहरादि मे प्रतीत नहीं होता। ज्ञान के विषय में आपकी जो विभूति है और ज्ञान का जो प्रकाश आपने पाया है, वह अन्य देवताओं में नहीं पाया जाता। मणियों पर चमकता तेज एक अनोखी ही आभा उत्पन्न कर देता है। कांच के टुकड़े पर पड़ने

वाले तेज में वह आभा कहां ? तात्पर्य यह है कि वीतराग और रागी देवों में उतना ही अन्तर है जितना मणि और कांच मे होता है। इस स्तुति से आशय यह निकलता है कि जिसकी आत्मा मणि के समान स्वच्छ होगी, उसका ज्ञान भी निर्मल और अधिक प्रकाशवान् होगा। इसके विपरीत जिस आत्मा प कषाय की कालिमा होगी, उसका ज्ञान भी मलीन होगा।

जैन सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को पहले वीतराग दशा प्राप्त होती हैं। इसके पश्चात सर्वज्ञ-अवस्था की प्राप्ति होती है। दसवें गुणस्थान के अन्त में, क्षपक-श्रेणी वाला जीव मोहनीय कर्म का पूर्णरूप से क्षय करता है, तब सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुंचकर, अंतिम क्षण मे तीन घातिया कर्मों का नाश करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होकर तेरहवे गुणस्थान को प्राप्त करता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म अन्तमुहूर्त पहले नष्ट होता है और शेष घातिया कर्म अन्तमुंहूर्त के बाद। यह क्रम बड़ा ही सुन्दर और स्वाभाविक है। वस्तुत आत्मा जब तक पूर्ण रूप से निर्मल न बन जाय तब तक उसके ज्ञानदर्शन गुण अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट नहीं हो सकते।

कल्पना कीजिए, किसी में सर्वज्ञता प्रकट हो जाय अर्थात वह सभी कुछ जानने-देखने लगे, मगर उसमें कषाय भाव मौजूद हो तो कितना अनर्थ हो जाय। मगर गनीमत यही है कि ऐसा कभी होता नहीं है। इसी नियम के कारण वीतराग देव सर्वज्ञता के धनी है और सरागदेव सर्वज्ञ नहीं है।

भगवान ऋषभदेव को हम आराध्यदेव क्यों मानते हैं ?

इसी कारण कि वे पूर्णज्ञानी थे। पूर्णज्ञानी होने के नाते ही हम उन्हें परमात्मा मानते है। उनको ही बार-बार हमारा नमस्कार है।

भाइयो ! चाहे ऋषभदेवजी हों चाहे महावीर स्वामी हों वे अपने बाप दादा नहीं है। उनसे हमारा कोई सांसारिक सबंध नहीं है। फिर हम इन्हीं का नाम क्यों लेते हैं ? और दूसरों का नाम क्यों नहीं लेते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि हम किसी भी अमुक नाम वाले को परमात्मा नहीं मानते। हमारा कथन यह है कि ,जिसने परमात्मा के गुण प्राप्त कर लिये है, वही वन्दनीय है, वही पूजनीय है, फिर चाहे उसका नाम कुछ भी हो। सर्वज्ञता और वीतरागता जिसमे पूर्णरूप से प्रगट हो गई हो, उसका नाम चाहे ऋषभदेव हो, महावीर हो या राम हो या और कुछ हो उसके चरणारविंद में हमारा मस्तक झुक जायगा। आचार्य हरिभद्र ने कहा है:—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

आचार्य अपने मनोभावों को स्पष्ट करते हुए जनता को संदेश दे रहे है। वे कहते हैं—"महावीर के प्रति मुझे पक्षपात नहीं है और कपिल आदि के प्रति मुझे द्वेषभाव नहीं है मैं तो सबके उपदेश का अध्ययन-मनन करता हूं। जिनका उपदेश युक्तियुक्त हो, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

सच्चे मुमुक्षु का यही कर्तव्य है। उसे पूरी तरह निष्पक्ष होना ही चाहिए। केवल सत्य के प्रति उसके हृदय में पक्षपात

होना चाहिए। जिसकी मानसिक भूमिका इतनी ऊंची हो जायगी, वह अवश्य सत्य को प्राप्त कर सकेगा।

भगवान ऋषभदेव के वचनों की हमने परीक्षा की है। और उन्होंने जो बतलाया है, वही बाद के तीर्थंङ्करों ने बतलाया है। अतएव एक की परीक्षा से सबकी परीक्षा हो जाती है। भगवान् का कहा हुआ सबसे बड़ा सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। यह जिनेश्वर देव की असाधारण देन है। इसकी सत्यता क्षण-क्षण में प्रमाणित हो रही है सभी वस्तुओं में अनेक अनन्त धर्म पाये जाते हैं। एक धर्मात्मक वस्तु संसार में एक भी नहीं है। यह मान्यता जिसकी सचाई से कोई इन्कार नहीं कर सकता, जैन धर्म की व्यापकता, संपूर्णता और सत्यता को प्रकाशित कर देती है।

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हराति नाथ भवान्तरेपि ॥२१॥

अन्वयार्थ—नाथ–हे नाथ। हरिहरादयः दृष्ट्वा एव-हरि-हरादिक देवो का देखना ही। वरंमन्ये– अच्छा मानता हूँ। येषु दृष्टेषु-जिनके देखने से। हृदयम्–हृदय। त्वयि–तुझमे। तोषम्–सतोप को। एति पाता है और। भवत विक्षितेन–आपके देखने से। किम्–क्या। येन जिससे कि। भुवि पृथ्वी मे। अन्यःकश्चित् कोई अन्य देव। भवान्तरे अपि–दूसरे जन्म मे भी। मनःन हरति-मन हरण नही कर सकता।

भावार्थ.—मै ऐसा मानता हूं कि मैंने देव कहलाने वाले हरिहरादि को देख लिये, उनका परिचय कर लिया सो अच्छा ही हुआ, यदि पहले उनके बजाय आपको ही देख लेता तो मुझे क्या लाभ होता, क्योंकि आपको देख लेने के बाद इस भव में तो क्या भवान्तर मे भी वे देव मेरे मन का आकर्षण नहीं कर सकते थे ॥२१॥

विवेचनः—भाइयो ! संसार में देवों की कमी नहीं है। लोगों ने अनगिनती देवों की कल्पना कर रक्खी है। अकेले वैदिक सम्प्रदाय मे ही तैतीस करोड़ देवों की संख्या मानी जाती है। मगर यह संख्या भी पुरानी है। इसके बाद भी कितने ही नये-नये देवों की सृष्टि हुई है। दूसरे सम्प्रदाय के देवों की

संख्या अलग ही है और वह भी मामूली नहीं है। सिर्फ भारतवर्ष में देवों की संख्या लगभग उतनी ही है, जितनी वहां के निवासियों की। मतलब यह कि अगर देवों का बंटवारा किया जाय तो लगभग प्रत्येक भारतवासी के हिस्से मे एक-एक देव आ सकता है।

ऐसी स्थिति में भक्त के सामने स्वतः यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि मैं किस देव की आराधना करूं? किसके समक्ष अपना मस्तक झुकाऊं? किसे अपनी भक्ति के पुष्प चढ़ाऊं? कौन देव हमारा कल्याण कर सकेगा?

वास्तव में प्रश्न बड़ा जटिल है। इस जटिलता को भक्तों की आग्रहपूर्ण भावना और भी जटिल बना देती है। प्रत्येक देव के प्रति कुछ लोगों की विशेष श्रद्धा होती है और श्रद्धा के साथ ही साथ आग्रह भी होता है। जहां आग्रह है वहां उन्मुक्त विचार के लिये अवकाश नहीं रहता।

प्रथम तो महापुरुषों की तुलना करना ही बड़ा कठिन काम है और फिर यदि कोई इस काम को करना भी चाहे तो जन समूह की आग्रह बुद्धि उसे ऐसा नहीं करने देती।

कितनी ही कठिनाइयां क्यों न हों, फिर भी भक्तों को, मुमुक्षुओं को, देव भगवान् के वास्तविक स्वरूप का विचार तो करना ही चाहिए। जैसे सोने की जांच करने का साधन कसौटी है, उसी प्रकार भगवान् के स्वरूप का विचार करने के लिये लक्षणरूप कसौटी है। देव का लक्षण बतलाते हुए आचार्य समंतभद्रजी ने कहा है:—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥
क्षुत्पिपासा जरातङ्कं जन्मान्तकभयस्मयाः ।
न राग द्वेष मोहश्च यस्याप्तःस प्रकीर्त्यते ॥

अर्थात् जो समस्त दोषों से अतीत हो चुके है, जो सर्वज्ञ है और जो हितोपदेशक है, वही सच्चे देव हो सकते है, इन गुणों के अभाव मे आप्तता नहीं रह सकता।

भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मृत्यु, भय, अहंकार राग-द्वेष और मोह जिसकी आत्मा से दूर हो गये हों, अर्थात जिसने इन सब दोषों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो, वही सच्चा देव कहलाता है।

देव को परखने की यह कसौटी है। इस कसौटी पर जो सच्चा खरा साबित हो, उसी को सच्चा देव स्वीकार करना चाहिए। तमाम देवों को इस कसौटी पर कसने के लिए बहुत ही विस्तार की आवश्यकता ह। अतएव सामान्य रूप से यही कहूँगा कि आप वीतराग और सर्वज्ञ प्रभु की शरण लो। समझ लो कि जो वीतराग हो चुका है वह कभी जन्म नहीं ले सकता और न मृत्यु का ग्रास बन सकता है।

जैनों का विरोध किसी व्यक्ति के साथ नहीं है। वे किसी व्यक्ति को वंदनीय अथवा अवंदनीय नहीं मानते, वरन् गुणों को वंदनीय समझते है। देव होने ने लिए जो कसौटी निर्धारित

की गई है उस पर जो खरा साबित हो, वही उसके लिये वंदनीय और अनुकरणीय है अर्थात जिसमे सर्वज्ञता है, वीतरागता है, वही व्यक्ति, फिर उसका नाम चाहे कुछ भी क्यों न हो, देव मानने योग्य है।

भाइयो जब तक मनुष्य सत्य की शरण में नहीं पहुँचता सत्य की उपासना और आराधना नहीं करता, सत्य को श्रेयस्कर नहीं समझता और सपूर्ण भाव से सत्य के चरणों में समर्पित नहीं हो जाता, तब तक असत्य के निखंड अंधकार में भटकता और ठोकरे खाता है। उसे दिव्य ज्योति के दर्शन नहीं होते वह कल्याण के पथ को नहीं देख सकता है। उसकी बुद्धि प्रथम तो किसी प्रकार का निर्णय नही कर सकती और यदि निर्णय करती भी है तो विपरीत निर्णय करती है। जैसे निर्णय न कर सकना बुद्धि का दोष है, उसी प्रकार उल्टा निर्णय करना भी दोष है। बल्कि विपरीत निर्णय और भी बड़ा खतरनाक है। संशय मनुष्य की कर्त्तव्यशक्ति को विनष्ट कर देता है और विपर्यास उस शक्ति को गलत मार्ग पर ले जाता है। बुराई दोनों में है। इसी कारण से मिथ्यात्व के भेदों में संशय की गणना की की गई है।

सत्य क्या है और असत्य क्या है? यह एक बड़ा ही जटिल प्रश्न है। विश्व के समस्त दर्शनशास्त्र इसी प्रश्न को सुलझाने के लिए उत्पन्न हुए है। सभी का दावा है कि वे सत्य का सन्देश लेकर आये है। मगर उनके संदेश एक दूसरे से विपरीत है। और इस कारण सत्य और भी उलझ गया है।

साधारण व्यक्ति के लिए सत्य-असत्य का बुद्धिपूर्वक निर्णय करना सहज नहीं रहा है। कहा भी है:—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना-
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

अर्थात् तर्क अस्थिर है, बिना पैंदी का लोटा है। शास्त्र अलग-अलग है और वे सब आपस में विरुद्ध बातें बतलाते हैं। आचार्य भी अनेक है और वे परस्पर विरोधी मत प्रकट करते है। किसके वचन पर विश्वास करें और किस पर अविश्वास करे? धर्म का तत्त्व अंधकार में छिप गया है। ऐसी स्थिति में जिस मार्ग पर बहुत लोग या महाजन चलते है, उसी पर चलना चाहिए।

यह कथन ऐसे व्यक्ति का है जो डूब गया है, सत्य का निर्णय करने में असमर्थ हो चुका है और जिसकी बुद्धि थक गई है।

मगर मैं सोचता हूँ कि सत्य यदि वास्तव मे अज्ञेय होता तो उसके समझने की शक्ति आत्मा मे न होती, तो सत्य की महिमा का कुछ भी अर्थ न रहता। मगर शास्त्रों मे, फिर चाहे वह जैन शास्त्र हो अथवा जैनेत्तर शास्त्र हो, सत्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा की गई है। कहा है—

नास्ति सत्य समो धर्मो, न सत्यादिह विद्यते परम्
न हि तीव्रतरं किंचित् नृतादिह विद्यते ॥

यहाँ यह बतलाया गया है कि सत्य से बढ़ कर तो क्या, सत्य के समान भी और कोई धर्म नहीं है और असत्य से बढ़ कर कोई पाप नहीं है।

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारत्र नौरिव।
न पावनतमं किंचित् सत्याद्ध्यगमं क्वचित् ॥

जैसे समुद्र को पार करने का उपाय जहाज है उसी प्रकार स्वर्ग प्राप्त करने का साधन सत्य है। सत्य से अधिक पावन और कोई दूसरी वस्तु समझ मे नहीं आई। सत्य के सच्चे अन्वेषक सत्य की उपलब्धि करके ही दम लेते हैं। जब उन्हें सत्य की उपलब्धि हो जाती है तब उनका अज्ञान और विपरीत ज्ञान हट जाता है। उनकी अन्तरात्मा एक अलौकिक आलोक से उद्भासित हो जाती है। अपूर्व ज्योति उनके सामने चमकने लगती है। वे भ्रम, अज्ञान और मूढ़ता के कारण शिकार नहीं होते।

किन्तु जब तक मनुष्य सत्य की प्राप्ति नहीं कर पाता, तब तक वह अनेक विडम्बनाएं किया करता है। न जाने किन-किन देवी-देवताओं के आगे मस्तक रगड़ता और घुटने टेकता फिरता है। किसी के आगे भैसों का बलिदान किया जाता है, किसी के सामने बकरों की गर्दन पर छुरी फेरी जाती

है। किसी-किसी को मनुष्य की बलि देकर प्रसन्न किया जाता है। सारांश यह है कि सत्य की ज्योति के अभाव में मनुष्य नाना प्रकार के मूढ़तापूर्ण कृत्य करता है। यह असत्य का ही प्रताप है कि आत्मा स्वभाव से निरंजन निराकार होकर भी अनादिकाल से संसार मे भटक रहा है और नाना प्रकार की दारुण वेदनाओं का पात्र बन रहा है। भला विचार कीजिए कि कितनी दुर्दशा और हो रही है इस आत्मा की ? इसे सत्य का प्रकाश मिला होता तो यह दुखावस्था कभी की समाप्त हो गई होती। कहा हैं—

अग्निना सिच्चमानोऽपि, वृक्षो वृद्धिं न चाप्नुयात्।
तथा सत्यं बिना धर्मः पुष्टिं नायाति कर्हिचित्॥

वृक्ष का सिंचन तो किया जाय, परन्तु पानी के बदले आग से सिंचन किया जाय, तो क्या वह वृक्ष वृद्धि को प्राप्त हो सकेगा ? कदापि नहीं ? इसी प्रकार सत्य के बिना धर्म कदापि पुष्ट नहीं हो सकता। धर्म को प्राण देने वाला सत्य ही है। अतएव सत्य के अभाव मे धर्म निष्प्राण होता है।

उपनिषद् मे कहा गया है— "सत्य ब्रह्म जगन्मिथ्या" अर्थात् परमात्मा सच्चा है और जगत का प्रपंच मिथ्या है। इसका ठीक तात्पर्य यही है कि परमात्मा की शरण लेने से ही मनुष्य का वास्तविक कल्याण हो सकता है। संसार के पदार्थ मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकते। परन्तु परमात्मा की शरण लेने से पहले परमात्मा का सच्चा स्वरूप समझ लेना चाहिए।

वही परम सत्य है और उससे बढ़कर दूसरा कोई सत्य नहीं हो सकता। हमारे यहां (जैनशास्त्र) भी कहा है:—

"तं सच्चं खु भयव" अर्थात् सत्य ही भगवान है। इतने विवेचन के पश्चात यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि परमात्मा और सत्य में कोई अन्तर नहीं है और सत्य की प्राप्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है। जिस पुण्यवान पुरुष को परमात्मा की प्राप्ति हो गई वह अन्यों के सामने घुटने नहीं टेकेगा। आचार्य ने कहा भी है:—

पीत्वा पयः शशिकरद्युति दुग्ध सिन्धोः।
क्षारं जलं निधेरसितुं क इच्छेत् ?

क्षीर सागर का चन्द्रमा की कान्ति के समान निर्मल और धवल सलिल पान करने के अनन्तर कौन अभागा लवण समुद्र का खारा पानी पीना चाहेगा ?

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्-
नान्या सुतं त्वदुपम जननी प्रसूता ।
सर्वादिशो दधति भानि-सहस्त्ररश्मि
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! स्त्रीणां शतानि-सैंकडो स्त्रिया । शतशः सैंकडो । पुत्रान्-पुत्रो को । जनयन्ति जनति है । परन्तु । अन्या-दूसरी । जननि-माता । त्वदुपयम्-तुम्हारे जैसा । सुतम्-पुत्र को । न प्रसूता-उत्पन्न नही कर सकती सो ठीक है क्योंकि सर्वादिशाः-सम्पूर्ण अर्थात आठो दिशाए । भानि नक्षत्रो को । दधति धारण करती है परन्तु । स्फुरतअंशुजालम् देदीप्यमान है किरणो का समूह जिसका, ऐपे । सहस्त्ररश्मिन् सूर्य को एक । प्राचीविक एव जनयति-पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! सैकडों स्त्रियां सेकड़ों पुत्रों का प्रसव करती है, परन्तु आपके सदृश पुत्र को दूसरी किसी माता ने जन्म नहीं दिया है-जसे नक्षत्रों (ताराओं) को सर्व दिशाएं जन्म देती हैं परन्तु हजारों किरणों वाले सूर्य को तो पूर्व दिशा ही जन्म देती है, अर्थात प्रकट करती है । इसी तरह आपके सदृश गुणों वाले सर्वगुण सम्पन्न तीर्थङ्कर पदानुभोगी दूसरा पुत्र तो इस भरत क्षेत्र मे समकालीन कोई दूसरी माता प्रसव नहीं करती ।

विवेचनः—भाइयो ! आचार्य महाराज ने बड़े ही भावपूर्ण शब्दों मे यहां भगवान् ऋषभदेवजी की विशिष्टता प्रदर्शित करते हुए स्तुति की है । भगवान् की माता का नाम मरूदेवी

था। वे पूर्व दिशा के समान हैं और उनके उदर से जन्म लेने वाले भगवान ऋषभदेव सूर्य के समान है। संसार की अन्य स्त्रियां, अन्य दिशाओं के सदृश्य है जो नक्षत्रों को धारण करती हैं, अर्थात साधारण पुत्रों को जन्म देती है। मगर सूर्य के सदृश भगवान ऋषभदेव को जन्म नहीं दे सकती है।

यहां भगवान् को सूर्य के समान बतलाया गया है। सूर्य रात्रि के गहन अन्धकार को नष्ट करके विश्व में आलोक को प्रसारित करता है। यही नहीं, वह प्राणियों को जीवन शक्ति देने वाला है। सूर्य के प्रताप से ही नाना प्रकार की धान्य, औषधियां उगती है, और उनके सहारे जगत का जीवन टिका हुआ है। सूर्य क हमारे प्रति असंख्य उपकार है। सूर्य न हो तो प्रकृति की सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाय। भगवान् ऋषभदेवजी ने भी जगत का इसी प्रकार महान् कल्याण किया है। उन्होंने प्राणियों के अन्तःकरण में व्याप्त भाव-अन्धकार का नाश किया और जब उस समय की जनता का जीवन कल्पवृक्षों के अभाव में खतरे में पड़ गया था, लोगों को चारों ओर मृत्यु का अंधकार ही अंधकार दृष्टिगोचर होता था, प्रकाश की एक किरण भी किसी तरफ नजर नहीं आती थी, तब उन्होंने जनता की जीविका के उपायों का प्रदर्शन किया था। उन्होंने धान्य उपजाने की विधि बतलाई, उसे पकाने और खाने के तरीके बतलाये और इस प्रकार वे जगत के महान उपकारक हुए। अतएव भगवान् को सूर्य की उपमा देना उचित ही है।

सैकड़ों क्या करोड़ों और असंख्य तारे एवं नक्षत्र आदि मिलकर भी रात्रि के अन्धकार को दूर करके दिन नहीं बना

सकते। किन्तु अकेला सूर्य समस्त अंधकार को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार संसार के सैंकड़ों हजारों मनुष्य मिल कर भी जो काम नहीं कर सकते थे, वह भगवान् ऋषभदेवजी ने अकेले ही कर दिखलाया।

संसार में पुत्र को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। मगर पुत्र सब समान नहीं होते। कोई-कोई पुत्र अपने कुल को उज्ज्वल बनाता है और कोई ऐसा भी जन्मता है जो कुल की प्रतिष्ठा में वृद्धि करना तो दूर रहा, पहले की प्रतिष्ठा में भी कलंक का टीका लगा देता है। सत्पुत्र की प्रशंसा करते हुए कहा गया है:—

एकोऽपि गुणवान् पुत्रो, निर्गुणैः किं शतैरपि।
एकश्चन्द्रो जगच्चक्षुर्नक्षत्रैः किं प्रयोजनम् ॥

सैकड़ों गुणहीन पुत्रों की अपेक्षा एक ही सद्गुणी पुत्र का जन्म होना अच्छा है। एक चन्द्रमा जगत के नेत्र का काम देता है। नक्षत्रों का क्या प्रयोजन है? तात्पर्य यह है कि जैसे चन्द्रमा आह्लादकारी होता है और प्रकाश फैलाता है उसी प्रकार अपने परिवार को आह्लाद उत्पन्न करने वाला और कुल की कीर्ति को प्रकाशित करने वाला एक ही पुत्र का होना बेहतर है, मगर इन गुणों से हीन सैकड़ों पुत्रों का जन्म होना निरर्थक है।

जिनके सपूत स्वयं धर्म का आचरण करके दूसरों को भी धर्म के मार्ग पर अग्रसर करते हैं, उनकी कूंख धन्य है। जो पुत्र

माता का दूध पीकर स्व-पर का कल्याण करता है और विश्व के समक्ष कोई महान् आदर्श उपस्थित कर जाता है, उस माता का दूध सफल हो जाता है। नीतिकार कहते हैं:—

पुण्यतीर्थे कृतं येन, तपः क्वाप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः॥

अर्थात जिसने किसी पवित्र भूमि में अत्यन्त कठोर तपस्या की होती है, उसका पुत्र माता-पिता की अधीनता में रहने वाला, ऋद्धिमान्, धर्मात्मा और सद्बुद्धिशाली होता है।

वास्तव मे वही माता धन्य और पुत्रवती कहलाती है जो विशिष्ट गुणवान् पुत्र को जन्म देती हैं। कहा है।

गुणीगणगणनारम्भे, न पतति कठिनी सुसम्भ्रमाद्यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी नाम?

अर्थात् गुणीजनों की गिनती करते समय पहले-पहल जिस पर अंगुली नहीं गिरती जो पहले पहल नहीं गिना जाता; ऐसे पुत्र को जन्म देने वाली माता अगर पुत्रवता गिना जाय तो वन्ध्या किसे माना जायगा? तात्पर्य यह है कि सच्ची पुत्रवती माता वही है जिसका पुत्र गुणीजनों मे अग्रगण्य होता है।

जो पुत्र उत्पन्न होकर अपने कुल की कीर्ति में चार चांद नहीं लगाता, जो अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं करता, जो परिवार का आधारभूत होकर नहीं रहता, जिसके द्वारा

देश का और जाति का कोई हित नहीं सधता, जिसके द्वारा जगत का कोई उपकार नहीं होता और जो स्वयं उच्च और पवित्र जीवन बनाकर दूसरों के लिए आदर्श नहीं बनता, वास्तव मे उसका जन्म लेना निरर्थक है। कहा भी है:—

असारे खलु संसारे, मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन, वंशो याति समुन्नतिम् ॥

इस असार संसार में कौन जन्म नहीं लेता और कौन नहीं मरता ? संसार के समस्त प्राणी जन्म मरण के चक्र में फंसे हुए है। किन्तु जन्म लेना उसी का सफल है, जिसके जन्म से वश की उन्नति होती है। जो अपने वंश को ऊंचा उठाता है, उसका जन्म धन्य है। जगन्माता मरूदेवी ने ऐसे महान् पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया कि जिसने उनके नाम को अमर कर दिया।

सद्गुणी बेटा एक ही तो बस है। बेटों की फौज खड़ी होने से कोई लाभ नहीं होता। पुत्र हो तो ऐसा हो जो माता-पिता को अन्तिम समय मे शान्ति और सुख पहुंचा सके। नीतिकार कहते हैं:—

एकेन राजहंसेन. या शोभा सरसो भवेत ।
न सा बकसहस्रेण परितस्तीर-वासिना ॥

एक ही राजहंस सरोवर की जितनी शोभा बढ़ाता है, उतनी चारों ओर से सरोवर को घेरने वाले हजारों बुगले भी

नहीं बढ़ा सकते। इसी प्रकार एक सुपुत्र कुल की शोभा वृद्धि करता है, हजारों कपूत ऐसा नहीं कर सकते।

एक बेटा जन्मे, लेकिन वह यदि विद्या और साधुता के गुण से परिपूर्ण हो तो वह एक ही भला है। रात्रि में चन्द्रमा का उदय होता है तो रात्रि कितनी सुहावनी हो जाती है। इसी प्रकार पुण्यवान् पुत्र के जन्म से कुल में प्रकाश उत्पन्न होता है। कहा भी है:—

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्।
गर्दभी दशपुत्रैश्च, भारं वहति सर्वदा॥

सिंहनी एक ही पुत्र को जन्म देती है, परन्तु वह पुत्र ऐसा पराक्रमी और बलवान होता है कि जिसकी बदौलत वह निर्भय सोती है। मगर गधी एक नहीं दस पुत्रों को जन्म देकर भी जब तक मर नहीं जाती तब तक लदती ही रहती है।

माता मरुदेवी की कूख से अकेले भगवान् ऋषभदेवजी का जन्म हुआ था। मगर उन अकेले ने ही अपने माता और पिता को विश्व में विश्रुत कर दिया। इसके विपरीत कौरव सौ भाई थे, मगर वे सब मिलकर अपने कुल के नाश के ही कारण बने।

कोटरान्तस्थितो वह्निस्तरूमेकं दहेत् खलु।
कुपुत्रस्तु कुले जातः स्वकुलं नाशयत्यहो!

अर्थात वृक्ष की कोटर में रही हुई अग्नि एकमात्र उसी वृक्ष को जलाती है, मगर कुल में जन्मा हुआ कपूत सारे कुल का नाश कर डालता है। ऐसे कपूत से उसके माता-पिता को क्या सुख मिल सकता है ?

यहां यह आशंका की जा सकती है कि कोई पुत्र कुपुत्र क्यों होता है ? दोनों के बीच अन्धकार और प्रकाश के समान जो अन्तर दिखाई देता है, इसका कारण क्या है ?

इस सम्बन्ध में बहुत सी बातें कही जा सकती है, पर संक्षेप में दो कारण बतलाये जा सकते है। प्रथम तो यह कि जन्म लेने वाला बालक यद्यपि वर्तमान जन्म में नया पैदा हुआ है फिर भी वह एकदम नवीन नहीं हैं। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों को साथ लेकर वह जन्म लेता है। इस प्रकार उसका अपना मौलिक अस्तित्व है और व्यक्तित्व है। उसके पूर्वजन्मों के संस्कार उसके वर्तमान जीवन के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखते है। उन्हीं संस्कारों के अनुरूप उसका जीवन बनता है।

दूसरी बात वातावरण की है। बालक के आसपास जिस प्रकार का वायु मण्डल होगा, वैसा ही प्रभाव वह ग्रहण करेगा। इस कथन का आशय यह है कि अगर माता-पिता अपने बालक को सुमार्गगामी बनाना चाहते है, अगर वे उसे सदाचारी के रूप मे देखने की इच्छा रखते है, अगर वे उसे धर्म-प्रिय और नीति-निष्ठ बनाना चाहते है, तो पहले अपने को स्वयं ऐसा बनना चाहिए। इसके विपरीत यदि आप धर्म की बातें करके अधर्म का आचरण करेंगे, बच्चे को तो न्याय-नीति पर चलने

का उपदेश देंगे और स्वयं अन्याय एवं अनीति की राह पर चलेंगे तो बालक धर्मात्मा और न्यायी शायद ही बन सकेगा। हाँ, वह ढोंग करना अवश्य सीख लेगा कि धर्म की बातें करना चाहिए और अधर्म का आचरण करना चाहिए।

भगवान ऋषभदेव के पिता का नाम नाभि था और माता का नाम मरूदेवी था। दोनों अपनी उच्च मर्यादा में स्थित थे। जगत का कल्याण करने की सदा भावना रखते थे। महाराजा नाभि कुलकर थे अर्थात् तत्कालीन प्रजा में व्यवस्था एवं नीतिमर्यादा के संस्थापक थे। भला ऐसे सुसंस्कारी, परोपकारी, सद्गुणी, उदार हृदय और दयालु पिता के पुत्र असाधारण क्यों न होते?

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस,
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनींद्र ! पन्था ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—मुनीन्द्र हे मुनीन्द्र ! मुनयः–मुनिजन । त्वाम्-तुम्हे । परमं पुमांसम्–परम पुरुष और । तमसः–अंधकार के । पुरस्तात्-आगे । आदित्य वर्णम् सूर्य के स्वरूप तथा । अमलम्-निर्मल । आमनन्ति-मानते है तथा वे मुनीजन । त्वाम् एव-तुम्हे ही । सम्यक्-भले प्रकार । उपलभ्य पा करके । मृत्युन् मृत्यु को । जयन्ति जीतते हैं । इसलिए तुम्हारे अतिरिक्त । अन्य दूसरा कोई । शिव – कल्याण-कारी अथवा निरूपद्रव । शिवपदस्य-मोक्ष का । पन्था. न-मार्ग नही है ।

भावार्थः—हे मुनीन्द्र ! आपको मुनिजन परम उत्कृष्ट पुरुष मानते हैं तथा कर्ममलरहित अत्यन्त निर्मल और अंधकार नाशक सूर्य मानते है एवं आपको मन, वचन, कार्य की शुद्धि पूर्वक सम्यक् प्रकार आराध कर मृत्यु को भी जीत लेते हैं। इसीलिए कहा गया है कि शिव (मोक्ष) पद को प्राप्त करने में आपको छोड़ कर दूसरा कोई भी पंथ (मार्ग) समथ नहीं है ॥ २३ ॥

विवेचन:—भाइयो ! अगर मरण से बचना है तो तुम भी किसी को मत मारो, क्योंकि मारना ही मरना है । श्री आचारांग सूत्र मे कहा हे—

"तुमंसि णाम तं चेव जं हंतव्वंति मरणासि"

अर्थात् जिसे तुम हनन करने योग्य मानते हो, वह तुम ही हो।

तुम अनादिकाल से मरते चले आ रहे हो, अब तो ऐसा यत्न करो कि मौत से छुटकारा पा जाओ और मौत से छुटकारा पाने का उपाय यही है कि किसी भी प्राणी की मौत का कारण मत बनो और पाप मत करो। भगवान ने फर्माया है— "एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा" अर्थात् न अकेले में पापकर्म करे, न समूह में। न सोते पापकर्म करे, न जागते। प्रत्येक अवस्था में पापकर्म का परित्याग करने वाला ही सत्पुरुष कहलाता है। अच्छा काम करो और धर्मध्यान करो। किसी प्रकार का प्रमाद मत करो।

परिजूरई ते शरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए॥

हे गौतम! तू एक समय भी प्रमाद में व्यतीत मत कर। क्षण क्षण में तेरा शरीर जीर्ण-शीर्ण हो रहा है, तेरे काले बाल धवल हो रहे है और तेरी समस्त इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती जा रही है।

भाइयो! अगर तुम समझते हो कि पहले सुख भोग लें फिर धर्म कर लें तो क्या तुम्हे यह आश्वासन मिल गया है कि अमुक समय तक तुम नहीं मरोगे?

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥

मौत के साथ जिसकी मित्रता हो, जो मौत का हमला होने पर भाग कर बच सकता हो, अथवा जिसे विश्वास हो कि मेरी मृत्यु होने वाली नहीं है, वह सोच सकता है कि आज नहीं कल कर लूंगा। मगर मौत जिसके मस्तक पर मंडरा रही है, जो मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ है, काल की विकराल दाढों में समाया हुआ है, वह कैसे सोचता है कि मैं आज नहीं, कल करूंगा।

अतएव अगर आप मृत्युञ्जयी बनना चाहते हो तो भगवान् की शरण गहो और किसी भी प्राणी के मरण का कारण मत बनो।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम् ।
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

अन्वयार्थः—हे प्रभो । संतः-सन्तपुरुष । त्वाम्-तुम्हे । **अव्ययम्**-अक्षय । **विभुम्** सर्व व्यापी । **अचिन्त्यम्**—चिन्तन में नहीं आने वाले । **असख्यम्**-असंख्य गुणो वाले । **आद्यम्**—आदि तीर्थङ्कर । **ब्रह्माणं**-निवृत्ति रूप अथवा सकल कर्मरहित । **ईश्वरम्**—सर्व देवो के ईश्वर । **अनन्तम्**-अन्त रहित । **अनगकेतुम्**—कामदेव को नाश करने के लिए केतुरूप। **योगीश्वरम्**-ध्य नियो के प्रभु । **विदितयोगम्** यम आदि आठ प्रकार के योगो को जानने वाले । **अनेकम्**-गुणपर्याय की अपेक्षा अनेक रूप **एकम्**-जीव द्रव्य की अपेक्षा एक अथवा अद्वितीय । **ज्ञानस्वरूपम्**-केवल ज्ञान स्वरूप चिद्रूप और । **अमलम्**-कर्ममल रहित । **प्रवदन्ति** कहते है।

भावार्थ—हे जगतपति ! आपकी ऋषि मुनिजन इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि तू अव्यय है, विभु हैं, अचित्य है असंख्य है, आद्य है, ब्रह्मा है, ईश्वर है, अनन्त है, अनंग केतु है, योगीश्वर है सब योगों का ज्ञाता है, अनेक भी है, और एक भी है, ज्ञान स्वरूप है और कर्ममल से रहित है, इत्यादि स्वरूपों से संत-महन्त आपका प्रतिपादन करते हैं ॥२४।

विवेचनः—हे महाप्रभो ! आप अव्यय हो अर्थात् आपके स्वरूप का कभी व्यय नहीं होता, विनाश नहीं होता। व्याकरण मे अव्यय वह शब्द कहलाते है जो प्रत्येक स्थिति में एक

रहते हैं। प्रभु भी सदैव शुद्ध स्वरूप में स्थिर रहते हैं, अतएव वे अव्यय है।

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। यह सिद्धान्त सर्वव्यापी है। इसका कोई अपवाद नहीं हो सकता है हम समस्त पदार्थों को जहां अपने-अपने मूल-स्वरूप में स्थित पाते हैं, वहां प्रतिक्षण परिवर्तनशील भी देखते है। पदार्थ का मूल स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है तो उसकी पर्याय निरन्तर बदलती रहती है। किसी भी वस्तु को लीजिए, वह द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य ही प्रतीत होती है। जड़ और चेतन सभी के लिए नियम समान रूप से लागू होता है।

जो जीव एक बार शुद्ध हो चुका है वह कभी अशुद्ध नहीं हो सकता। जिसने मुक्ति प्राप्त करली है, वह कभी संसार में नहीं लौट सकता। कहा है—

> दग्धे बीजे यथाऽत्यंतं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
> कर्मबीजे तथा दग्धे, न प्ररोहति भवांकुरः॥

बीज से अंकुर उत्पन्न होता है और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है। बीज और अंकुर का यह कार्य कारण भाव अनादि-काल से चला आ रहा है। परन्तु जब बीज को जला दिया जाय तो लाख चेष्टा करने पर भी वह अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता। अनन्तकाल की वह कार्य-कारण की परंपरा उसी समय अनंतकाल के लिए, सदैव के लिए समाप्त हो जाती है।

इसी प्रकार कर्म और संसार में भी कार्य-कारण भाव है। अतः कर्मरूपी बीज के भस्म हो जाने पर संसार अर्थात् जन्म-मरण-रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार जिसने एक बार सिद्ध अवस्था प्राप्त करली, वह सदैव के लिए "अव्यय" हो जाता है। उसका पुनः जन्म-मरण नहीं होता। इसलिये आगम में कहा है— "अपुणरावित्ति सिद्धिगईनामधेयं ठाणं संपत्ताण' अर्थात् सिद्ध भगवान् ऐसे सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त हुए हैं जो "अपुनरावृत्ति" है अर्थात् पुनरागमन नहीं होता। इसी अभिप्राय से भगवान् को "अव्यय" कहा है।

भगवान् को "विभु" भी कहा गया है। विभु का अर्थ है सर्वव्यापी! कई लोगों का खयाल है कि ईश्वर शरीर से सर्वव्यापी है और आकाश की तरह सब जगह ठसाठस भरा हुआ है। जैसाकि कहा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखम्।
विश्वतोबाहुरुत विश्वतः पात्॥

अर्थात् ईश्वर की आंखें सब जगह है मुख सर्वत्र है, भुजाएं सब जगह है और पैर भी सभी जगह हैं।

अगर यह बात सही मान ली जाए तो संपूर्ण लोक ईश्वर के शरीर से परिपूर्ण हो जाता। फिर दूसरे अनंत पदार्थों के लिए जगह ही नहीं रहती। अतएव भगवान् को शरीर से सर्वव्यापी न मान कर ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी मानना चाहिए। वह भी इसी अर्थ में कि उससे लोक-अलोक के समस्त पदार्थ जाने

जाते हैं। ऐसा नहीं है कि भगवान् का ज्ञान उनकी आत्मा से बाहर निकल कर सब जगह फैला हुआ हो। ज्ञान आत्मा का गुण है और गुण गुणी को छोड़ कर अलग नहीं हो सकता। अतएव उनका ज्ञान उनकी आत्मा में हो स्थित होकर रूपी-अरूपी समस्त पदार्थों को जानता है और इसी दृष्टिकोण से भगवान् विभु या सर्वव्यापक है। वस्तुतः ईश्वर सभी कुछ देखते है और सभी कुछ जानते है इस तरह जिसे ईश्वर पर पूर्ण भरोसा होगा, उसने बुरे काम कदापि नहीं होंगे।

भगवान् अचिन्त्य है इसका अर्थ यह है कि उनका स्वरूप बुद्धि-ग्राह्य नहीं है; मन से अगोचर है। केवल स्वानुभूति-गम्य है।

भगवान् असंख्य भी हैं। उनकी संख्या नहीं हो सकती। जो अनंतगुणों के भण्डार है, उनकी संख्या संभव नहीं है। फिर अनादिकाल से आत्माएं परमात्मपद को प्राप्त करती आ रही है। अनन्त आत्माओं ने सिद्धि प्राप्त की है और उन सब का अस्तित्व पृथक-पृथक है। अतएव उनकी गणना नहीं हो सकती।

भगवान "आद्य" है। भक्तामर स्तोत्र भगवान् ऋषभदेव की स्तुति है। ऋषभदेव स्वामी इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर थे। इस दृष्टि से वे "आद्य" है। 'आद्य' का दूसरा अर्थ है श्रेष्ठ। यद्यपि श्रेष्ठता विविध दृष्टियों से विविध प्रकार की मानी जाती है, परन्तु वास्तविक और स्थायी श्रेष्ठता आत्मोत्कर्ष मे ही है। भगवान् आत्मोत्कर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त है, अतएव उन्हे 'आद्य' कहते है।

'भगवान्' ब्रह्मा भी हैं प्रत्येक तीर्थंकर धर्म मार्ग की प्रवृत्ति करते हैं, मोक्ष मार्ग का विधान करते हैं, अतएव वह 'विधाता' या 'ब्रह्मा' है। फिर भगवान ऋषभदेव तो मानव समाज के आदि व्यवस्थापक भी हैं। उन्होंने भोग-भूमि की नष्ट होती हुई व्यवस्था के समय में कर्मभूमि की व्यवस्था की। मनुष्य जाति को जीवन निर्वाह के साधनों का उत्पादन करना और प्रयोग करना भी सिखलाया। इसी कारण वही सच्चे ब्रह्मा है।

'भगवान' "ईश्वर" है उनका आत्मिक ऐश्वर्य सर्वोत्कृष्ट और अपरिमित है। संसार का क्षण भंगुर ऐश्वर्य वास्तव में ऐश्वय नहीं है। सच्चा ऐश्वर्य आत्मा की अनन्त और असीम शक्तियों में अन्तर्हित है। आत्मा के गुणों का अक्षय भंडार ही सच्चा वैभव है। उसे प्राप्त कर चुकने वाले ही परमात्मा कहलाते हैं।

"अनन्त" विशेषण परमात्मा के लिए ही सबसे अधिक उपयुक्त है। बतलाया जा चुका है कि आत्मा की अनन्त शक्तियां है और सिद्ध हो जाने पर उनमे से प्रत्येक शक्ति अनन्त हो जाती है। उनके किसी भी गुण की सीमा नहीं है। ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त, वीर्य अनन्त, सिद्धत्व अनन्त, स्थिति अनन्त। अतएव परमात्मा का "अनन्त" नाम है।

भगवान् "अनंगकेतु" है। उन्होंने काम-वासना को जो साधारण प्राणियों को अजेय प्रतीत होती है, पूर्णरूप से जीत लिया है। कामवासना पर विजय प्राप्त किए बिना आत्मा का

उद्धार नहीं होता और न वह अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रकट ही होता है। काम वासना ही वह बाधा है, जिसके कारण आत्मा सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता। यह कामना प्रवाह रूप से, अनादि-काल से, आत्मा पर हावी हो रही है। कामवासना की एक छोटीसी चिनगारी भी योगियों को योगभ्रष्ट कर देती है, तपस्वियों की तपस्या पर पोता फेर देती है और ज्ञानियों के ज्ञान को धूल में मिला देती है। कामवासना के किंकर बनकर लोग कितनी यातनाऐ भुगतते हैं। उन सबका वर्णन करना भी शक्य नहीं है। यह कहना भी शक्य नहीं है। यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं कि संसार के दुःखों का प्रधान कारण कामविकार ही है। कामवृत्ति की आग की लपलपाती हुई ज्वालाऐं मनुष्य के कल्याण को, विवेक को, चातुर्य को और अन्यान्य समस्त सद्‌गुणों को भस्म कर देती है। शास्त्र कहते हैं.—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थयमाणा अकामा जंति दुग्गइं ॥

—श्री उत्तराध्ययन

यह कामभोग हृदय में चुभे हुए कांटे के समान दुःखदायी है, विष के समान भयावह है। कांटा चुभने के बाद ही दुःख देता है, विष सेवन करने के पश्चात ही जीवन को नष्ट करता है और सांप स्पर्श होने पर ही काटता है, किन्तु कामभोगों की बात निराली है। जो लोग काम-भोगों का सेवन नहीं करते है, किन्तु उनकी कामना करते हैं, अभिलाषा करते है, उन्हे भी ये नरक-तिर्यंच गति मे ले जाते हैं।

शास्त्रकारों के इस कथन से काम-भोगों की भयंकरता का पता चल सकता है। पूरी तरह काम वासना पर विजय प्राप्त करने वाले महापुरुष ही वीतराग होते है और जो वीतराग पद प्राप्त कर लेते हैं उन्हें ही सर्वज्ञता और ईश्वरता प्राप्त होती है। अतएव यहां भगवान को अनंगकेतु कहा गया है।

भगवान योगीश्वर है। उन्होंने योग के समीचीन अर्थ को जाना है। वे ज्ञानस्वरूप हैं-चिन्मय है, एक रूप होकर भी अनेक रूप हैं। सवथा अमल है।

परमात्मा के पूर्ण गुणों का वर्णन करने की किसी में शक्ति नहीं है। ऐसी अमित महिमा से मंडित वीतराग प्रभु ही इस जीव के लिये शरणभूत हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर जीव संसार-सागर से पार उतरते है। विमल विभु की भक्ति ही आत्मा को विमल बनाती है।

भाइयो ! अपना कल्याण चाहते हो तो वीतराग प्रभु की भक्ति की लहरों से अपने अन्तःकरण को विमल बनाओ। भक्ति के निर्झर शुचि स्रोत चित्त में बहने दो। जानते हो भक्ति का अर्थ क्या है ? सच्चा भक्त कौन कहलाता है ? कहने को तो सभी अपने-अपने को भगवान् का भक्त बतलाते है। कोई यह मानने को तैयार नहीं है कि हम भगवान् के भक्त नहीं है; किन्तु सच्चा भक्त वही है जिसे परमात्मा कभी याद नहीं करना पड़ता। जो परमात्मा को याद करे, वह सच्चा भक्त नहीं है। ऐसा सच्चा भक्त बनना बहुत कठिन है।

आप सोचते होंगे कि मैं कैसी विपरीत बात कर रहा हूँ ? भगवान् का स्मरण करने वाला भक्त होता है, यह तो सदा से सुनते आ रहे हैं; किन्तु मैं कह रहा हूं कि ऐसा करने वाला सच्चा भक्त नहीं है। तो क्या परमात्मा को न स्मरण करने वाला सच्चा भक्त समझा जाय ?

हाँ, बात यही है। परमात्मा को समय-समय पर याद करने वाले परमात्मा के सच्चे नहीं कच्चे भक्त हैं। सच्चा भक्त वह है जो कभी परमात्मा को भूलता ही नहीं है। और जो कभी भूलता नहीं, उसे याद करने की भी आवश्यकता नहीं होती। याद तो उसीकी की जाती है, जिसकी बीच में याद भुला दी जाय।

सच्चा भक्त वही है जो पल भर के लिए भी परमात्मा को विस्मरण नहीं करता जिसके अन्तःकरण में परमात्मा की दिव्य ज्योति सतत जागृति रहती है। ऐसे भक्त को कभी स्मरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती। जैसे पद्मिनी स्त्री क्षण भर के लिए भी अपने पति को नहीं भूलती, उसी प्रकार भगवान् का भक्त भगवान् को नहीं भूलता।

इसी प्रकार जो "णमो अरिहंताणं" की माला फेरता है, किन्तु भगवान की आज्ञा नहीं मानता, अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता अर्थात् झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि कार्य करता है तो क्या भगवान् उस पर प्रसन्न होंगे ? जब तुम भी अपनी आज्ञा की अवहेलना करने वाली स्त्री पर प्रसन्न नहीं होते तो ईश्वर कब प्रसन्न होने वाला है ?

भगवान् का नाम जपने मात्र से भगवान् प्रसन्न नहीं होता अपितु उसके हुक्म के मुताबिक चलने से ही वह प्रसन्न होता है। कई लोग नाम ले-लेकर प्रसन्न होते है और समझते हैं कि हमने भगवान् को रिझा लिया है, पर यह उनका भ्रम है। वे मोक्ष के मार्ग पर नहीं हैं। मुक्ति के अनन्त ऐश्वर्य के भागी वह होंगे जो भगवान् द्वारा प्रदर्शित सत्य मार्ग पर चलेंगे उन्हीं का कल्याण होगा और उन्हीं पर भगवान् की प्रसन्नता की वर्षा होगी।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात् ।
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे नाथ ! विबुधार्चित बुद्धिबोधात्–गणधरो ने अथवा देवो ने तुम्हारे केवल ज्ञान के बोध की पूजा की है, इस कारण। त्वम् एव-तुम ही। बुद्धः–बुद्धदेव हो। भुवनत्रय शंकरत्वात्– तीन लोक के जीवो के सुख व कल्याण को करने वाले। त्वम–तुम ही। शंकर. असि–शकर हो और। धीर–हे धीर। शिवमार्ग विधेः–मोक्ष-मार्ग के रत्नत्रय रूप विधि का। विधानात्–विधान करने के कारण तुम ही। धाता असि–विधाता हो। इसी प्रकार। भगवन्–हे भगवन्। त्वम्एव–तुम ही। व्यक्तम्–प्रकट रूप से अर्थात उपर्युक्त प्रकार से पुरुषो मे उत्तम होने के कारण। पुरूषोत्तम–पुरूपोत्तम व नारायण। असि–हो।

भावार्थः—हे विभो ! आप बुद्ध हैं क्योंकि गणधरों अथवा देवों ने आपके केवल ज्ञान की पूजा की है। तीन लोक के जीवों का कल्याण करने वाले होने से आप शंकर हो। हे विभो ! क्योंकि आप मोक्षमार्ग की रत्नत्रय रूप विधि को बताने वाले है, इसलिये आप विधाता भी हैं। और इसी कारण से पुरुषों मे सर्वश्रेष्ठ होने से आप पुरूषोत्तम है ॥२५॥

विवेचनः—प्रभो ! आप देवों द्वारा अर्चित है। देव आपके अनन्त बोध की पूजा करते है। आपने संपूर्ण तत्वज्ञान

को प्राप्त कर लिया है अथवा यह कहें कि आत्मा में जो अनन्त ज्ञान शक्तिरूप में विद्यमान था, उसे आपने व्यक्त कर लिया है। आप बोधमय हो गये हैं। अतएव आप बुद्ध है, संबुद्ध हैं बुद्ध भगवान् हैं।

प्रभो ! अगर हम आपको शंकर कहें तो भी हानि नहीं है। क्योंकि आप तीनों लोकों के शंकर हैं–प्राणीमात्र को धर्म का उपदेश देकर सुखी बनाने वाले हैं। शंकर शब्द का अर्थ है–सुखकारी। "शं" अर्थात सुख को 'कर' अर्थात करने वाले।

प्रभो ! आप धाता या विधाता भी हैं। धाता या विधाता का अर्थ है ब्रह्मा। भगवान् ऋषभदेवजी ने कर्म भूमि की आदि में समस्त लौकिक व्यवस्थाओं की नींव डाली थी और प्रजा का सामाजिक जीवन व्यवस्थित एवं नीतिमय बनाया था। तत्पश्चात् संयम धारण करके, उग्र तपस्या करके, केवल ज्ञान प्राप्त करके, जगत् में इस अवसर्पिणीकाल में सर्व प्रथम धर्म व्यवस्था की स्थापना की थी। इस प्रकार लौकिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं का सूत्रपात करने के कारण भगवान् ऋषभदेवजी ही सच्चे विधाता हैं। वही इस लोक में वास्तविक ब्रह्मा है।

प्रभो ! आप अपने असाधारण और अनुपम गुणों के कारण पुरुषोत्तम भी हैं। पुरुषोत्तम विष्णु को कहते हैं, परन्तु पुरुषोत्तम शब्द का अर्थ है पुरुषों में उत्तम। जिन प्रभु ने मानव जाति को नीति की मर्यादा सिखलाई और फिर धर्म की मर्यादा बतलाई, जो अनन्त बोध प्राप्त कर चुके है, जगत के जीवों के सुखकारी हैं, वे पुरुषोत्तम न होंगे तो फिर कौन पुरुषोत्तम होगा ?

आचार्य महाराज ने इस पद में भगवान् ऋषभदेवजी की उदार भाव से, अनेक नामों द्वारा स्तुति की है। यह स्तुति सचमुच ही बड़ी ही हृदयग्राही और बोधजनक भी है।

परमात्मा के अनेक नाम हैं। परमात्मा अनन्त गुणों के आधार हैं, अतएव उनके नाम भी अनन्त होते हैं। कोई किसी भी नाम से भगवान् की स्तुति करे, अगर उसके चित्त में परमात्मा का स्वरूप सही अंकित है तो उसकी स्तुति परमात्मा तक पहुँचती है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा हैः—

यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवान्।
एक एव भगवन् नमोस्तुते॥

किसी भी संप्रदाय या परंपरा में, जिस किसी रूप में, किसी भी नाम से आप कहे जाते हो, आप समस्त दोषों की कलुषता से अलिप्त हैं तो सर्वत्र एक ही हैं। ऐसे हे एकरूप भगवन्! आपको हमारा नमस्कार है।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा के नाम को लेकर किसी भी प्रकार का विवाद नहीं होना चाहिए। बुद्धिमान पुरुष नाम के लिए विवाद नहीं करते। नाम तो पहचान के लिये हैं। असली वस्तु स्वरूप है। नाम अनन्त होने पर भी अगर उन नामों से एक ही स्वरूप का बोध होता तो झगड़े का क्या कारण है? जब परमात्मा में अनन्त गुण विद्यमान हैं, और एक नाम

एक ही गुण बोधक हो सकता है तो फिर परमात्मा के नाम भी अनन्त ही होने चाहिए। ऐसी स्थिति में परमात्मा को चाहे बुद्ध कहो, चाहे शंकर कहो, चाहे विधाता या पुरुषोत्तम कहो, एक ही बात है। यही बात प्रसिद्ध तार्किक श्री अकलंकदेव ने कही है:—

यो विश्वं वेद वेद्यं जनन जलनिधेर्भंगिना पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकल गुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तम्,
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥

आचार्य ने इस स्तुति में सर्वप्रथम परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट कर दिया है। वह इस प्रकार है:-जिन्होंने जगत के समस्त ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थों को जान लिया है, अर्थात जो सर्वज्ञ हैं जो सर्वदर्शी है, जिनके पूर्वापर विरोध नहीं है, जिनके वचन अनुपम और निर्दोष है अर्थात प्रत्यक्ष, अनुमान-प्रमाण से बाधित नहीं हो सकते, जिन्होंने काम, क्रोध, मद, मोह, अज्ञान आदि समस्त दोषों का नष्ट कर दिया है अर्थात् जो वीतराग दशा को प्राप्त कर चुके हैं, मतलब यह है कि जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्दोष, धर्मोपदेशक और वीतराग है, वही सच्चे परमात्मपद के अधिकारी है। ऐसे परमात्मा को समस्त सत्पुरुष वंदनीय मानते हैं। उनका नाम चाहे बुद्ध हो, वर्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो या शिव हो! इन नामों की भिन्नता के कारण परमात्मा में कोई भेद नही होता।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ,
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

अन्वयार्थः—हे नाथ ! त्रिभुवनार्तिहराय-तीन लोक की पीड़ा हरण करने वाले ऐसे। तुभ्यम्–आपको। नम—नमस्कार है। क्षितितलामलभूषणाय-पृथ्वी तल के एक निर्मल अलकार रूप। तुभ्यम्-आपको। नमः-नमस्कार है। त्रिजगतःपरमेश्वराय–तीनो जगत के परम प्रभु। तुभ्यम्–आपके लिये। नमः—नमस्कार है। और, जिन-हे जिन ! भवोदधिशोषणाय–ससार समुद्र को सोखने वाले। तुभ्यम् आपको। नमः-नमस्कार है।

भावार्थ—त्रिभुवन की पीड़ा हरने वाले, हे नाथ ! पृथ्वी के अनुपम भूषण स्वरूप या निर्मल अलंकार रूप हे प्रभो ! त्रिजगत्पति हे परमेश्वर ! तथा संसार रूपी समुद्र को सोखने वाले हे जिन ! मैं आपको नमस्कार करता हूं ॥२६॥

विवेचनः—भाइयो ! आर्ति अर्थात् पीड़ा दो प्रकार की है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक पीड़ा व्याधि कहलाती है और मानसिक पीड़ा आधि कहलाती है। दोनों ही प्रकार की पीड़ाओं का प्रधान और मूल कारण कर्म है। असातावेदनीय कर्म के उदय से सब प्रकार की पीड़ाएं उत्पन्न होती है। भगवान् की विशुद्ध भाव से भक्ति करने पर कर्म का समूल विनाश हो जाता है। कर्म का विनाश होने पर किसी प्रकार की आर्ति शेष नहीं रह जाती।

दूसरी बात यह है कि जिसके अन्तःकरण में प्रभु का निवास हो जाता है, उसमें एक अलौकिक समभाव जाग उठता है। वह संसार में रहता हुआ भी अलिप्त रहता है। मोह-माया उसके अन्तरतर को छूने में समर्थ नहीं होती। उसे धन-संपदा, कुटुम्ब-परिवार आदि अनुकूल सामग्री मिलने पर हर्ष नहीं होता। इतना ही नहीं, भगवान का उच्चकोटि का भक्त अपने शरीर पर भी ममता नहीं रखता। आगम में कहा है:—

'अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरन्ति ममाइयं"।

इस विरक्ति या अनासक्ति की भावना से भूषित होने के कारण वे प्रत्येक परिस्थिति में आत्मनिष्ठ बने रहते है। उन्हें मानसिक चिन्ता लेशमात्र भी नहीं सता सकती। रही शारीरिक पीड़ा, सो शरीर में रोग हो जाने पर भी दुःख का अनुभव नहीं करते है। भक्तजनों को यह अशोक अवस्था प्रभु प्रसाद से ही प्राप्त होती है। अतएव भगवान् पीड़ा को हरने वाले हैं।

तीसरी बात यह है कि भगवान ऋषभदेवजी ने समान भाव से जगत के समस्त प्राणियों के दुःखों का विनाश करने वाले धर्म-पथ का प्रदर्शन किया है। यह अलग बात है कि कोई भगवान् के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलें या नहीं, कोई चलना चाहे या न चाहे, मगर उन्होंने निर्विकल्प भाव से सभी को सन्मार्ग बतलाया है। भगवान् का उपदेश किसी देश के लिये किसी जाति के लिए, वर्ग-विशेष के लिये अथवा किसी समूह के लिये नहीं था। मनुष्यमात्र समानरूप से उनकी शरण में जा

सकता था और उनके धर्मोपदेश सुनकर अपना कल्याण साधन कर सकता था। उनका विशाल दरबार सबके लिए खुला हुआ था। वहां किसी के लिए रोक टोक नहीं थी। किसी के लिये द्वार वन्द नहीं था। अरे! मनुष्य की बात ही छोड़ो, पशुओं को भी भगवान् के चरणों में शरण मिलती थी। समवसरण में पशु भी उपस्थित होकर प्रभु की पावन और अमृतमय वाणी का रसास्वादन कर सकते थे और करते भी थे। इस प्रकार प्रभु ने सब प्रकार के कष्टों, दुखों और वेदनाओं से छुड़ाने वाले धर्म का उपदेश तीनों लोकों के जीवों के हित के लिए दिया था। अतएव भगवान तीन लोक की पीड़ा को हरण करने वाले है। ऐसे हितोपदेशक प्रभु को हमारा बार बार नमस्कार है।

जिसकाल में भगवान् स्वयं इस भारत भूमि को विभूपित कर रहे थे, उस समय में भी अनेक प्रभावशाली और प्रतिष्ठित पुरुष मौजूद थे। मगर उनमें से कोई भी तीर्थङ्कर भगवान् की समता करने में समर्थ नहीं थे। तीर्थङ्कर का पुण्य अतुल, अनुपम होता है। उस पुण्य के उदय से एवं आत्मिक तेज से भगवान् सुशोभित थे। मनुष्य साधना के द्वारा किस उच्चतम स्थिति तक पहुँच सकता है, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण भगवान् थे। अतएव वे जगत के निर्मल भूषण थे।

भगवान् देवाधिदेव थे। जगत के साधारण प्राणी देवों को अथवा इन्द्र को अपना आराध्य समझते थे। मगर देव और देवों का राजा इन्द्र भी भगवान् को पूज्य समझता था। असंख्य देव भगवान् की सेवा मे तत्पर रहते थे। भगवान् का आंतरिक ऐश्वर्य तो असाधारण था ही, देवकृत बाह्य वैभव भी अनुपम

था। उस आंतरिक और बाह्य वैभव के स्वामी होने के कारण भगवान् तीनों जगत के परमेश्वर थे।

भगवान ने संसार रूपी सागर को सोख लिया था। मतलब यह है कि जन्म-जरा और मरण पर पूरी तरह विजय प्राप्त कर ली थी।

यहां शंका की जा सकती है कि भगवान् जब अर्हन्त अवस्था में थे, तब तो संसार में ही थे फिर उन्हें भव-सागर का शोषण करने वाला किस प्रकार कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मोक्ष दो प्रकार का है–अपर मोक्ष और परमोक्ष। सिद्ध दशा की प्राप्ति हो जाना, अशरीर होकर आत्मा का सिद्धशिला पर विराजमान हो जाना परमोक्ष है और चार-घन घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर अर्हन्त अवस्था की प्राप्ति हो जाना अपर-मोक्ष कहलाता है। अरिहंत भगवंत जीवन्मुक्त भी कहलाते है यद्यपि उनके औदारिक शरीर विद्यमान हैं तथापि उन्हें आगे कभी जन्म धारण नहीं करना है। अतः उन्हें भवोदधि का शोषण करने वाले कहते हैं।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि जन्म उन्हें नहीं लेना पर मृत्यु को तो नहीं जीता है। एक बार तो अरिहंत भगवान की मृत्यु होती है। इसका उत्तर यह है कि अरिहन्त भगवान अपना शरीर त्यागकर मोक्ष पधारते हैं मृत्यु हुए बिना मोक्ष कैसे पा सकते हैं? किन्तु उनका शरीर त्याग मृत्यु नहीं निर्वाण कहलाता है। मृत्यु वह कहलाती है, जिसके बाद फिर जन्म धारण करना पड़े, फिर नया शरीर ग्रहण करना पड़े। निर्वाण है, जिसे प्राप्त करके फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता।

भाइयों ! ऋषभदेवजी तीनों जगत के पिता हैं, माता हैं, बन्धु हैं, त्राता हैं, परमेश्वर हैं। वे 'धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टी' अर्थात् धर्म के चक्रवर्ती हैं। उर्ध्वलोक में रहने वाले देवता, मध्यलोक के मनुष्य और तिर्यच तथा अधोलोक में रहने वाले वाणवंतर तथा सम्यग्दृष्टि नारकी जीव भी भगवान् को मानते हैं, उन पर श्रद्धा करते हैं। वे तीनों जगत मे शान्ति करने वाले और सुखकारी हैं। वे प्रत्येक को दुःख से सदा बचाए रखने का प्रयत्न करते हैं इसी निमित्त वे धर्मोपदेश करते हैं। जैसे पिता पुत्र का रक्षक होता है, उसी प्रकार भगवान् जगत के प्राणीमात्र की रक्षा के लिए उपदेश देते है। जैसे माता पुत्र का पोषण करती है, और उसे शान्ति उपजाती है, उसी प्रकार भगवान् भी जगत के जीवों का पोषण करते हैं उन्हें शान्ति उपजाते हैं। भगवान् सबके बन्धु है। बन्धु का काम बन्धु को मदद करना हैं। भगवान् ऐसी मदद करते है कि दुर्गति में ही नहीं पड़ने देते। कोई जैलखाने मे चला जाय तो उसका भाई उसे छुड़ाने का प्रयत्न करता है, इसी तरह भगवान् जीवों को नरकरूपी कारागार से पड़ने से बचाते है।

भगवान् जगत के "नाथ" हैं। योगक्षेमकरो नाथः" अर्थात् जो योग और क्षेम करने वाला हो वह नाथ कहलाता है। जो वस्तु प्राप्त न हो उसका प्राप्त होना योग कहलाता है और जो वस्तु प्राप्त हो उसकी रक्षा करना क्षेम कहलाना हैं। भगवान् ऐसे ही योग-क्षेम करने वाले है। जिन जीवों को सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त नहीं है, उन्हें वे प्राप्त कराते हैं और जिन्हें प्राप्त हो गये है उनकी रक्षा का उपदेश देते हैं। इस

प्रकार भगवान् नाथ भी हैं। भगवान जगत के रक्षक हैं, जगत के हितकारी हैं और जगत को सुख पहुंचाने वाले हैं। भगवान ने कहा है-"सव्वे पाणा न हन्तव्वा।" अर्थात् किसी भी प्राणी का हनन मत करो, किसी को पीड़ा मत पहुँचाओ, किसी को मत सताओ, क्योंकि सभी प्राणियों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय हैं।

ऐसे जगत के नाथ भगवान् ऋषभदेवजी को हमारा बार बार नमस्कार है।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै—
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः,
स्वप्नांतरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

अन्वयार्थः—मुनीश–हे मुनियो के ईश्वर । यदि यदि । अशेषैः-सपूर्ण । गुणै.–गुणो के । निरवकाशतयाः-सघनता से । त्वंसश्रितः–आप आश्रय हो । अपि–तथा । उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः–अनेक देवादिको द्वारा दिये गये आश्रय से जिन्हे घमड हो रहा है, ऐसे । दोषै.–दोषो ने । स्वप्नान्तरेअपि स्वप्न प्रति स्वप्नावस्थाओ मे भी । कदाचित् अपि–किसी समय भी । न ईक्षितः असि–नही देखे गये हो तो । अत्र–इसमे । को नाम विस्मयः-इसमे कौन सा आश्चर्य हुआ ? अर्थात् कुछ नही ।

भावार्थः—हे नाथ ! संसार में जितने भी गुग थे, उन्होंने तो आपके अन्दर इस प्रकार निवास कर लिया कि वहां पर कुछ भी अवकाश ही नहीं छोड़ा जो अवगुणों को स्थान मिल सके ओर अवगुणों ने मारे घमंड के इसलिये प्रवेश नहीं किया कि हमको संसार के अन्दर बहुत से देवों ने अपने में स्थान दे रक्खा है, एक जिनेश्वर देव हमें स्थान नहीं दें तो क्या ? हम भी इनकी तरफ देखते तक भी नहीं। इस प्रकार गुण और अवगुणों मे भेद पड़ जाने से आप सर्वगुग सम्पन्न और सर्वदोष रहित है।

विवेचनः—भाइयो ! इस पद्य मे आचार्य महाराज ने अत्यन्त सुन्दरता के साथ भगवान् के गुणों का वर्णन किया है।

वे कहते हैं कि दोषों को रहने के लिये संसार में स्थान आधार की कमी नहीं है। उन्हें अनेकों का आश्रय मिला हुआ है। चाहे जिसको देखो, उसमें न्यूनाधिक परिमाण में दोष रहते ही हैं। इस प्रकार जब सारी सृष्टि में दोष भरे हुए हैं तो दोषों को घमंड हो जाना स्वाभाविक ही है। इस घमंड के कारण दोषों ने भगवान की परवाह नहीं की। उनकी ओर आंख उठाकर भी उन्होंने नहीं देखा। दोषों ने सोचा कि जब सारा संसार ही हमें अपना रहा है तो हमें क्या परवाह है? इस घमण्ड के कारण भगवान ऋषभदेव से वे दूर ही रहे। परिणाम यह हुआ कि भगवान में समस्त गुणों को ही आश्रय मिला। भगवान ऋषभदेव में सब गुण ही गुण इकट्ठे हो गये तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? भगवान में इतने गुणों का समावेश हो गया कि अवगुणों के रहने की जगह ही नहीं रह गई! भगवान दोषों का जरा भी आदर नहीं करते, अतएव दोष कहते हैं कि हमें आपकी क्या अपेक्षा है? समस्त संसार स्वागत करता है, हमें गले लगाता है, अकेले आप हमें नहीं नहीं पूछते तो न सही। इस तरह स्वप्न में भी दोषों ने आपकी ओर आने की परवाह नहीं की। इसी कारण भगवान अनन्त गुणों से समृद्ध हैं।

यह अलंकारमय कथन है। इस कथन का मूल आशय यही है कि भगवान ने अपनी आत्मा को इतना पवित्र और निर्मल बना लिया था कि उसमें लेशमात्र भी दोष को स्थान नहीं रह गया था। उनकी आत्मा अनन्त गुणों से सुशोभित थी।

भाइयो ! दुर्गुण और सद्गुण न्यूनाधिक मात्रा में सभी संसारी जीवों में होते है। परन्तु जो अपने दुर्गुणों को जीत कर उन्हें सद्गुण के रूप में पलट लेते हैं, जो दुर्गुणों को त्याग करके सद्गुण ही सद्गुण धारण करते है वे लोकोत्तर महापुरुष स्तुति के योग्य बनते है।

जिनमे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्त सुख और अनन्त शक्ति विराजमान है उन आदि तीर्थङ्कर नाभिनन्दन भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार है।

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥२८॥

अन्वयार्थ.—उच्चै.—ऊंचे। अशोकतरूसंश्रितम् अशोकवृक्ष के आश्रय मे स्थिर और। उन्मयूखम्—उपर की ओर निकलती है किरणें जिसकी, ऐसा। भवतो—आपका। नितान्तम् अत्यन्त। अमलम्—निर्मल। रूपम्—रूप। स्पष्टोल्लसत्किरणम्—व्यक्त रूप से उपर को फैली है किरणे जिसकी, ऐसे तथा। अस्ततमोवितानम्—नष्ट किया हैं अन्धकार का समूह जिसने ऐसे। पयोधरपार्श्ववर्ति—बादलो के पास रहने वाले। रवे—सूर्य के। बिम्ब इव बिम्ब के समान। आभाति शोभित होता है।

भावार्थः—हे नाथ ! अशोक वृक्ष के नीचे रहा हुआ आपका तेजस्वी शरीर शोभा देता है जैसे बादल के पास सूर्य का बिम्ब अपनी निराली छटा प्रकट कर रहा हो। यह जिनेश्वर देव के अष्ट महाप्रातिहार्यों में से प्रथम प्रातिहार्य का वर्णन है ॥२८॥

विवेचनः—भाइयो ! भगवान ऋषभदेव जब गृहस्थाश्रम में रहे तो जगत् का कल्याण करने में तत्पर रहे। उन्होंने मानव जाति के जीवन का पथ प्रदर्शित किया, समाज व्यवस्था की नीव डाली और राज्य शासन का आरम्भ किया, जिससे मनुष्य नीति मार्ग पर चलते हुए अपने जीवन को धर्म आराधना का पात्र बना सके।

आज मनुष्य जाति सुख और सन्तोष के साथ जीवित है तो यह भगवान ऋषभदेव का प्रताप है। अलबत्ता जिस-जिस अंश में दुनिया भगवान के बतलाये हुए मार्ग से विमुख हो रही है, उस-उस अंश से वह सुख-शान्ति से दूर होती जाती है और मुसीबतों से घिरती चली जाती है।

भगवान एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे और फिर पूर्ण ज्ञानी हुए। पूर्णज्ञानी अर्थात सर्वज्ञ होकर भगवान ने विश्व के स्वरूप को यथार्थ रूप मे जाना और तीनों लोकों और तीनो कालों के भावों को हस्तामलक के समान स्पष्ट रूप से देखने लगे। उस समय भगवान् की असली और पूरी महिमा प्रकाश मे आई। भगवान् ने संसार को लोकोत्तर धर्म का संदेश दिया। उन्हे अलौकिक ऋद्धि की प्राप्ति हुई। देवों ने आठ महाप्रातिहार्यों की रचना करके भगवान् के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की।

आठ महाप्रातिहार्यों मे अशोक वृक्ष पहला है। भगवान् जहाँ पधारते है, विराजमान होते है और सदुपदेश देते है, वहाँ भगवान् के ऊपर अशोक वृक्ष की छाया होती है। उसे देखने वाले अपना शोक भूल जाते है। इसी कारण वह अशोक वृक्ष कहलाता है। वह वनस्पतिकाय का नहीं होता वरन् पार्थिव होता है। वह भगवान् के साथ-साथ चलता है। यदि वह वनस्पतिकाय का होता तो भगवान् के साथ-साथ कैसे चल सकता था? भगवान् के अतिशय से वह साथ-साथ चलता है और देखने वालों को प्रसन्नता प्रदान किया करता है।

अशोक वृक्ष दुनिया को सन्देश देता है कि मै तो नाम का ही अशोक हूँ और केवल नैत्र-रंजन करके क्षण भर थोड़ी-सी प्रसन्नता प्रदान कर सकता हूँ। असली अशोक तो भगवान् हैं। वे शाश्वत सुख शांति के प्रदाता हैं। उन्हें नमन करो, उनका प्रवचन सुनो, उनके उपदेश को धारण करो तो तुम्हारा शोक समूल नष्ट हो जायगा और तुम स्वयं "अशोक" बन जाओगे।

शोक एक प्रकार का आर्तध्यान है। वह प्रायः तब होता है जब हमारी मर्जी के अनुकूल कोई प्रिय वस्तु जुदा हो जाती है या जो चीज हमारी मर्जी के खिलाफ है, जिसे हम नहीं चाहते, उसका संयोग हो जाता है या रोग आदि हो जाता है।

शोक मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। मोहनीय कर्म की अट्ठाइस प्रकृतियां है। मोहनीय कर्म मूल में दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं— मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और समकित मोहनीय। चारित्र मोहनीय कर्म दो प्रकार का है— कषाय चारित्र मोहनीय जिसके सोलह भेद है और नो कषाय मोहनीय, जिसके नौ भेद है।

भाइयो! आठों कर्मों में मोहकर्म सबसे जबरजस्त है और इसके नष्ट होने पर मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है।

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानम्,
तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्त्ररश्मेः ॥२९॥

अन्वयार्थः—हे भगवन् ! मणिमयूख शिखा विचित्रे-मणियो की किरण पंक्ति से चित्र विचित्र। सिंहासने-सिंहासन पर। तव-तुम्हारा। कनकावदातम्-सुवर्ण के समान मनोज्ञ। वपुः-शरीर। तुंगोदयाद्रि शिरसि-ऊंचे उदयाचल के शिखर पर। वियद्विलसदंशुलता-वितानम्-आकाश मे शोभित हो रहा है किरण रूपी लताओ का पट, मंडप के आकार मे घिरावट। सहस्त्ररश्मेः-बिम्बं इव-सूर्य के बिम्ब की तरह। विभ्राजते-अतिशय शोभित होता है।

भावार्थः—हे प्रभो ! जब आप रत्नों की किरणों मे चमकते हुए सिंहासन पर बिराजते हैं, तब आपका सुवर्णवर्णी शरीर ऐसा शोभायमान होता है, जैसा उदयाचल पर्वत के शिखर पर रहा हुआ सूर्य अपनी अपूर्व शोभा दे रहा हो। यह दूसरे प्रतिहार्य का वर्णन है ॥२९॥

विवेचनः—भाइयो आचार्य महाराज ने यहां भगवान् के शरीर को सूर्य की उपमा दी है अर्थात् जैसे उदयाचल पर्वत पर सूर्य शोभायमान होता है, उसी प्रकार सुरनिर्मित सिंहासन पर प्रभु का शरीर सुशोभित होता था। उदित हुआ सूर्य जैसे सुनहरे रंग का होता है, उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी सुनहरे रंग का था। जैसे सूर्य तेजस्वी होता है वैसे

ही भगवान् का शरीर तेज से परिपूर्ण था। सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है और भगवान् के दर्शनमात्र से भव्य जीवों का मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता था, किन्तु सूर्य के बिम्ब में जो आभा होती है; वह पुद्गल की आभा है और भगवान् का शरीर चेतन की आभा से सुशोभित था।

दीक्षा लेते समय ही भगवान् ने संसार के समस्त भोगोपभोग त्याग दिये थे। उन्हें सिंहासन या इस प्रकार की ऐश्वर्यसूचक किसी भी अन्य वस्तु की आकांक्षा नहीं थी।

यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि अगर भगवान् को सिंहासन की इच्छा नहीं थी तो भगवान ने देवों को मना क्यों नहीं कर दिया? इस प्रश्न का उत्तर बहुत गंभीर है। सच पूछिये तो इस प्रश्न का उत्तर पूरी तरह वही समझ सकता है जिसने अपने जीवन में साधना की हो या साधना के मर्म को भली भांति समझा हो, फिर भी आप लोगों की जानकारी के लिए मैं इस विषय पर थोड़ा सा प्रकाश डालने की कोशिश करता हूं।

आध्यात्मिक साधना की अनेक श्रेणियां होती हैं। साधना अपनी प्रारम्भिक दशा में निर्बल होती है और फिर धीरे-धीरे उसे बल मिल जाता है और अन्तिम स्थिति में पूरी तरह परिपक्व हो जाती है। राग और द्वेषरूप विकारों को जीतना ही साधना है। जितने-जितने अंशों में इन विकारों पर विजय प्राप्त होती जाती है, उतने अंशों में साधना पूरी तरह पक जाती है अर्थात् पूर्णता पर पहुँच जाती है तो पूर्ण समभाव प्रकाशित हो जाता है। जो पूरी तरह वीतराग हो चुका है और

जिसकी आत्मा में पूर्ण समभाव जाग उठा है, वह कैसे भी वातावरण में रहे, कैसे भी पदार्थों का उसे संयोग मिले, उसकी आत्मा समभाव में ही स्थित रहती है। फिर उसे जान बूझ कर किसी वस्तु से दूर भागने की आवश्यकता नहीं रहती।

भगवान् ऋषभदेव को जब देव निर्मित सिंहासन प्राप्त हुआ तब वे पूर्ण वीतराग अवस्था प्राप्त कर चुके थे। मोहनीय कर्म को पूरी तरह जीत चुके थे। सिंहासन के प्राप्त होने पर भी उनकी आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति में सिंहासन का मिलना और न मिलना उनके लिये समान था। न उन्हें सिंहासन को स्वीकार करने की इच्छा थी और न उसका त्याग करने की इच्छा थी। त्याग और ग्रहण दोनों ही विषम भाव है। समभाव इन दोनों से ऊंची स्थिति है। भगवान इस उच्चतर भूमिका पर पहुँच चुके थे। अतएव देवों को सिंहासन लेकर चलने की मनाई कैसे करते? जो सब प्रकार की इच्छाओं से अतीत हो चुका है वह मनाई करने की भी इच्छा कैसे कर सकता है?

भगवान् ऋषभदेव सर्वज्ञ थे और सर्वज्ञ इच्छारहित होते है। इच्छा अल्पज्ञ को होती है।

भगवान् ऋषभदेव परमात्म अवस्था को प्राप्त कर चुके थे परमात्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है:—

न बन्धो न मोक्षो न रागो न द्वेषः।
न योगो न भोगो न व्याधिश्च शोकं ॥

न कामो न क्रोधो न माया न लोभो।
सच्चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम् ॥

अर्थात्—परमात्मा वह है जिसमें न बंध हो, न मोक्ष हो न राग हो न द्वेष हो। जो इन सब अवस्थाओं से अतीत होकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और वीतराग हो चुका हो, वही परमात्मा कहलाता है।

भगवान् में न राग है न द्वेष है। जो भक्ति करे उस पर प्रसन्न हो जाय और जो भक्ति न करे उस पर अप्रसन्न हो जाय तो समझना चाहिए कि राग-द्वेष मौजूद है। जो लोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिये उसकी भक्ति करते हैं, वे उसे रिश्वत देते है। वीतराग भगवान् ऐसी रिश्वत नहीं चाहते। लोभी और लालची हाकिम घूंस खाकर खुश हो जाता है। परमात्मा ऐसा हाकिम नहीं है कि भक्ति की रिश्वत लेकर प्रसन्न हो जाय और भक्ति न करने वाले पर नाराज हो जाय।

मनुष्य अपने कल्याण के लिये भक्ति करता है, ईश्वर के लिये नहीं करता है। राजी होना या नाराज होना अल्पज्ञों का काम है। सर्वज्ञ परमात्मा को कोई नमस्कार करे या न करे उनका सब पर समभाव रहता है।

भगवान् न योगी हैं न भोगी हैं। योग साधकदशा में होता है, मगर भगवान् सिद्ध हैं। उन्हें योग की आवश्यकता नहीं है। जैसे मेघहीन गगन में सूर्य अपने सहज प्रताप और प्रकाश से सुशोभित होता है, उसी प्रकार परमात्मा का स्वरूप

समस्त आवरणों से रहित होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकाशमय होता है। ऐसी स्थिति में भगवान योग से भी अतीत हो जाते है।

भगवान भोगी भी नहीं है। संसार में कई तरह के भोग हैं। पांच इन्द्रियों के विषय काम भोग कहलाते हैं। भगवान् इन सबसे परे पहुँच चुके हैं। वे समस्त वस्तुओं के स्वरूप को अतीन्द्रिय ज्ञान से जानते है और अतीन्द्रिय दर्शन से देखते है और उनमें पूर्णरूप से उदासीनभाव धारण करते हैं। अगर भगवान् इन्द्रियों से इन विषयों को जाने तो वे भी साधारण पुरुषों की तरह भोगी हो जाएं।

भगवान में मान भी नहीं है। जहां मान विद्यमान हो वहां भगवान् नहीं हो सकते। कहा भी है:—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान ॥

ईश्वर मे कपट और लोभ भी नहीं है। ये दोनों आत्मा के शत्रु है और जहां इनका सद्भाव होता है, वहां आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाता। परमात्मा का स्वरूप समझाते हुए कहा गया है:—

बिन रसना के सब स्वाद चखे,
आंखों बिन जग को देख रहा ।
बिन कान सुने सबकी बातें,
बिन त्वचा स्पर्श को परख रहा ॥

ईश्वर की महिमा निराली है और अद्भुत है। वह जबान के बिना सब स्वाद जानता है। आंखों के बिना ही सारे जगत को देख रहा है और स्पर्श किये बिना ही कोमल, कठोर, शीत-उष्ण आदि स्पर्शों को जान रहा है !

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्जरवारिधार-
मुच्चैःस्थितं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! कुन्दावदात चलचामर चारुशोभम्-कुन्द के समान उज्ज्वल और चलते हुए चवरो से मनोहर हो रही है शोभा जिसकी, ऐसा । कलधौतकान्तम्–सोने सरीखी कान्ति वाला । तव वपु–आपका शरीर । उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारिधारम्–उदयरूप चन्द्रमा के समान निर्मल झरनो की जलधारा जिनमे वह रही है, ऐसे । शातकौम्भम्–सुवर्णमय । सुरगिरेः–सुमेरू पर्वत के । उच्चैस्तटइव-ऊचे तटो की तरह । विभ्राजते शोभित होता है ।

भावार्थः—हे दयानिधि ! जब समवसरण में स्फटिक सिंहासन पर विराजे हुए आपके आसपास सफेद कुन्द के पुष्प जैसे चमर ढुर रहे हैं, उस समय वे चमर के जोड़े ऐसे शोभायमान लगते है जैसे सुवर्णमयी सुमेरुगिरि पर्वत के आसपास दोनों तटों पर से चन्द्र के समान निर्मल पानी के झरनों की धारा बह रही हो । यह तीसरे प्रातिहार्य का वर्णन है ॥३०॥

विवेचन:—भाइयों ! भगवान आदिनाथ का शरीर स्वर्णवर्ण का था और उस शरीर की अवगाहना पांच सौ धनुप की थी । भगवान के शरीर की इन दोनों विशेषताओं की तुलना यहाँ सुमेरु पर्वत के स्वर्णोपम ऊंचे शिखर के समान है । जब भगवान समवसरण मे विराजमान होते थे और धर्मोपदेश देते थे तो

उनके दोनों तरफ कुन्द के पुष्प के समान शुभ्र और सुन्दर चंवर स्वतः ही ढुरते रहते थे। इन चामरों से भगवान् के शरीर की शोभा और भी अधिक बढ़ जाती थी। उस समय की छटा एक दम अनूठी होती थी। उस शोभा का वर्णन करने के लिए शब्द समर्थ नहीं है। उस शोभा का अगर थोड़ा बहुत वर्णन किया जा सकता है तो एक उपमा के द्वारा ही किया जा सकता है। उन धवल, निर्मल और चचल चामरों से शोभायमान भगवान् का शरीर ऐसा जान पड़ता था, जैसे सुमेरु पर्वत के सुनहरे तट पर उदीयमान चन्द्रमा के समान स्वच्छ झरने की धारा बह रही हो।

भगवान् ने जन्म जन्मान्तर में साधना करके उसके फल-स्वरूप जो तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया था, उसी के प्रभाव से उन्हे यह अतिशय प्राप्त हुआ था। यह अतिशय भगवान का बाह्य अतिशय है और इससे पुण्य की महती महिमा प्रकट होती है। नैसर्गिक भक्ति से प्रेरित हुए देवों द्वारा यह अतिशय प्रकट किया गया था। दोनों ओर दो स्वच्छ चामर मानों भगवान् के निर्मल दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के प्रतीक हैं। बाहर दोनों चामर भगवान् की महिमा को प्रकट करते हैं तो भीतर दोनों क्षायिक उपयोग भगवान् की आत्मिक महत्ता को प्रकाशित करते है। इन आंतरिक अतिशयों में ही भगवान की वास्तविक महिमा है। भगवान की आंतरिक महिमा के कारण ही वे वंदनीय हैं और पूजनीय हैं। यही कारण है कि भगवान की सर्वज्ञता और वीतरागता को शास्त्रकार मूल अतिशयों में गिनते है।

भाइयो ! आपने कभी चंवर को ढुरते तो देखा होगा। चंवर नीचे आता है तो ऊंचा भी जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो नीचे झुकेगा नम्रता धारण करेगा, वही उपर उठ सकेगा। संसार में जो नमता है, वह ऊंचा दर्जा पाता है। कहा भी है:—

पत्थर ठोकर खात है करड़ाई के पास।
देखो रज ऊंची चढ़े, नरमाई के पास॥

देखो, धूल कितना मुलायम होती है। इसी कारण वह राजा के भी मस्तक तक पहुंच जाती है इसके विपरीत पत्थर कठोर होने के कारण जूतों की ठोकरें खाता है। इस प्रकार जो अभिमानी है कठोर है वह कभी ऊंचा नहीं चढ़ सकता है।

नम्रता कब आती है ? मैं आपसे प्रश्न करता हूं। 'आम वृक्ष कब झुकता है ?" जब उस पर फल आते हैं। इसी प्रकार जब आप अपने जीवन को सफल बनाएंगे अर्थात् पाप को त्याग कर धर्म की वृद्धि करेंगे, सद्गुणों से युक्त होंगे, तभी आप भी झुक सकेंगे।

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त,
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

अन्वयार्थः—हे नाथ । शशांककान्तम्-चन्द्रमा के समान रमणीय । उच्चैःस्थितम् उपर ठहरे हुए, तथा । स्थगित भानुकरप्रतापम्-निवारण किया है, सूर्य की किरणों का प्रताप जिन्होंने और । मुक्ताफलप्रकरजाल विवृद्धशोभम्—मोतियो के समूह की रचना मे बढ़ी हुई है शोभा जिनकी, ऐसे । तव—आपके । छत्रत्रयम्-तीन छत्र । त्रिजगतः तीन जगत के । परमेश्वरत्वम्-परम ईश्वरत्व । प्रख्यापयत्-प्रकट करते हुए । विभाति-शोभित होते है ।

भावार्थः—हे प्रभु आपके मस्तक पर रहे हुए चन्द्र की ज्योत्सना जैसे कान्तिमान और मोतियों की जाल से मंडित सूर्य के तेज को हरण करने वाले तीन छत्र ऐसे सुशोभित होते है, जैसे वे तीनों लोकों का स्वामित्व प्रकट कर रहे है ॥३१॥ यह चतुर्थ प्रातिहार्य का वर्णन है ।

विवेचनः—भाइयों ! इस श्लोक में आचार्य ने भगवान के तीन छत्ररूप अतिशय का वर्णन किया है । भगवान जब समवसरण मे विराजमान होते थे और जगत के जीवों का उद्धार करने के लिए धर्म का उपदेश देते थे उस समय भगवान के उपर तीन छत्र सुशोभित हो[illegible] [illegible] दूसरे के नीचे रहते थे । [illegible] का छत्र स[illegible] उपके नीचे का कुछ छोटा [illegible] [illegible]चे का स[illegible] [illegible] । था । तीनों छत्र अत्यंत [illegible] थे । [illegible] के समान

थी। वे सूर्य की किरणों से बरसने वाले ताप को रोक देते थे। उन छत्रों से मोतियों की सुन्दर झालरें लटकी हुई होती थी, जिनके कारण उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी वे तीन छत्र यह सूचित करते थे कि भगवान तीन लोक के नाथ है।

राजा के तो एक ही छत्र होता है क्योंकि उसका शासन सिर्फ एक ही लोक में होता है। परन्तु भगवान का शासन जैसे मध्यलोक मे वैसे ऊर्ध्वलोक और अधोलोक मे भी होता है। भगवान तीर्थंकर विश्व के समस्त प्राणियों के उद्धार के लिए उनके रक्षण और पोषण के लिए समान रूप से उपदेश देते है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा है—'सव्वजगजीव रक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं' अर्थात् भगवान ने समस्त जीवों का रक्षा और दया के लिए प्रवचन का उपदेश दिया है। अतएव तीर्थंकर भगवान तीनों लोकों के पालक, रक्षक और उद्धारकर्ता हैं। यही कारण है कि देवगण भगवान के उपर तीन दिव्य छत्रों का निर्माण करते है।

भाइयो ! तीन छत्र धारण करने वाले भगवान् ने आत्म-कल्याण के लिये तीन बातों का उपदेश दिया है:—(१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान (३) सम्यक्चारित्र। इन तीनों को रत्नत्रय अथवा तीन रत्न कहते हैं यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। इन तीनों रत्नों की महिमा बड़ी है। मगर इन तीनो में भी सम्यग्दर्शन की महिमा असाधारण है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र उसके कार्य है। सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते है। सम्यक्दर्शन के अभाव में कितना ही ज्ञान क्यों न हो, मिथ्या ज्ञान ही कहलाता है और चारित्र भी मिथ्या चारित्र कहलाता है।

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त,
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

अन्वयार्थः—हे नाथ। शशांककान्तम्-चन्द्रमा के समान रमणीय। उच्चैःस्थितम् उपर ठहरे हुए, तथा। स्थगित भानुकर-प्रतापम्-निवारण किया है, सूर्य की किरणों का प्रताप जिन्होंने और। मुक्ताफलप्रकरजाल विवृद्धशोभम्—मोतियो के समूह की रचना से बढ़ी हुई है शोभा जिनकी, ऐसा। तव—आपके। छत्रत्रयम्-तीन छत्र। त्रिजगतः तीन जगत के। परमेश्वरत्वम्-परम ईश्वरत्व। प्रख्यापयत्-प्रकट करते हुए। विभाति-शोभित होते हैं।

भावार्थः—हे प्रभु आपके मस्तक पर रहे हुए चन्द्र की ज्योत्सना जैसे कान्तिमान और मोतियों की जाल से मंडित सूर्य के तेज को हरण करने वाले तीन छत्र ऐसे सुशोभित होते है, जैसे वे तीनों लोकों का स्वामित्व प्रकट कर रहे है ॥३१॥ यह चतुर्थ प्रातिहार्य का वर्णन है।

विवेचनः—भाइयों! इस श्लोक में आचार्य ने भगवान के तीन छत्ररूप अतिशय का वर्णन किया है। भगवान जब समवसरण में विराजमान होते थे और जगत के जीवों का उद्धार करने के लिए धर्म का उपदेश देते थे उस समय भगवान के उपर तीन छत्र सुशोभित होते थे। वे एक दूसरे के नीचे रहते थे। सबसे उपर का छत्र सबसे बड़ा और उसके नीचे का कुछ छोटा और सबसे नीचे का सबसे छोटा होता था। तीनों छत्र अत्यंत ही उज्ज्वल होते थे। उनकी दीप्ति चन्द्रमा के समान

थी। वे सूर्य की किरणों से बरसने वाले ताप को रोक देते थे। उन छत्रों मे मोतियों की सुन्दर झालरें लटकी हुई होती थी, जिनके कारण उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी वे तीन छत्र यह सूचित करते थे कि भगवान तीन लोक के नाथ है।

राजा के तो एक ही छत्र होता है क्योंकि उसका शासन सिर्फ एक ही लोक में होता है। परन्तु भगवान का शासन जैसे मध्यलोक मे वैसे ऊर्ध्वलोक और अधोलोक में भी होता है। भगवान तीर्थंकर विश्व के समस्त प्राणियों के उद्धार के लिए उनके रक्षण और पोषण के लिए समान रूप से उपदेश देते है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा है—'सव्वजगजीव रक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं' अर्थात् भगवान ने समस्त जीवों का रक्षा और दया के लिए प्रवचन का उपदेश दिया है। अतएव तीर्थंकर भगवान तीनों लोकों के पालक, रक्षक और उद्धारकर्ता हैं। यही कारण है कि देवता भगवान के उपर तीन दिव्य छत्रों का निर्माण करते हैं।

भाइयो ! तीन छत्र धारण करने वाले भगवान् ने आत्म-कल्याण के लिये तीन बातों का उपदेश दिया है:—(१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान (३) सम्यक्चारित्र। इन तीनों को रत्नत्रय अथवा तीन रत्न कहते हैं यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। इन तीनों रत्नों की महिमा बड़ी है। मगर इन तीनो मे भी सम्यग्दर्शन की महिमा असाधारण है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र उसके कार्य हैं। सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। सम्यक्दर्शन के अभाव मे कितना ही ज्ञान क्यों न हो, मिथ्या ज्ञान ही कहलाता है और चारित्र भी मिथ्या चारित्र कहलाता है।

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग-
स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

अन्वयार्थः—हे जिनेन्द्र ! गंभीरताररवपूरितदिग्विभागः-गंभीर तथा ऊँचे शब्दों से दिशाओं को पूरित करने वाली । त्रैलोक्य लोकशुभसंगमभूतिदक्ष-तीनों लोक के लोगों को शुभ समागम की विभूति देने में चतुर ऐसा और । ते आपके । यशसः-यश का । प्रवादी-कहने वाला ; दुन्दुभिः-दुन्दुभी । खे-आकाश में सद्धर्मराजजयघोषणघोषकसन्:-सद्धर्मराज की अर्थात् तीर्थङ्करदेव की जयघोषणा को प्रकट करता हुआ। ध्वनति-नाद करता है ।

भावार्थः—हे नाथ ! समवसरण में देव दुन्दुभि की जो आवाज होती है वह बहुत गंभीर तथा ऊंचे स्वर से दिशाओं को पूरित करता हुआ ऐसा जान पड़ता है कि तीनों लोक के जीवों को आपके शुभ समागम की सूचना ही देता हो तथा आपकी विजय घोषणा एवं आपका यशोगान करता हो। यह पांचवे प्रतिहार्य का वर्णन है ।।३२।

विवेचनः—भाइयो ! इस आर्य भूमि पर इतिहासातीत काल में ही सभ्यता और संस्कृति का विकास हो चुका था। भगवान् ऋषभदेव के समय में ही अयोध्या जैसी विशाल नगरियों का निर्माण हो चुका था। अयोध्या नगरी उस समय बारह योजन अर्थात ४८ कोस लम्बी और नौ योजन अर्थात

१२ कोस चौड़ी थी। इतनी चौड़ी नगरी के एक कोने में से या नगरी के बाह्य भाग में भगवान् पधारे तो सब लोगों को कैसे पता चले कि भगवान् का पदार्पण हुआ है? अतः यह कार्य देवता करते थे। दुन्दुभी बजाने से जनता को विदित हो जाता था कि तीन लोक के नाथ भगवान् ऋषभदेव पधारे हैं। यह मानो प्रेरणा करती थी कि तीनों लोकों के भव्य जीवों को सत्संग करने का यह सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। भगवान् नाभिनन्दन पधारे गये हैं। धर्म के नायक, धर्म के प्रचारक का पदार्पण हो रहा है।

आजकल बड़े-बड़े नगरों मे कोई उपदेशक या प्रचारक आते हैं तो लाउडस्पीकर से अथवा विज्ञापन द्वारा उनके आने का संवाद फैलाया जाता है। पूर्वकाल में तीर्थंकर भगवान् का आगमन होने पर देव-दुन्दुभी से यह कार्य हुआ करता था और जो भव्य जीव भगवान् के दर्शन के लिये या धर्मोपदेश सुनने के लिये आने की अभिलाषा रखते थे वे आ जाते थे इस प्रकार देव-दुन्दुभी जहां भगवान् की महिमा का विस्तार करती थी, वहां उनके पदार्पण की शुभ-सूचना भी देती थी। भगवान् के समवसरण में बजने वाली दुन्दुभी वास्तव में इस बात की घोषणा करती थी कि प्रभु ने अपने समस्त (आत्मिक) शत्रुओं पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर ली है। विजय की दुंदुभी मानो प्रभु का यशोगान करती है।

भाइयो! धर्म-क्रिया के लिए परस्पर एक दूसरे को प्रेरणा करना, सूचना करना, उत्साहित करना भी महत्वपूर्ण धर्म कार्य है। यह सम्यग्दर्शन का फल है। जिसमे धर्म-भावना

गाढ़ी होगी, जो धर्म के प्रति सच्ची प्रीति रक्खेगा, वह धर्म-कार्य के लिए दूसरों को प्रेरित किये बिना रह ही नहीं सकता। यह ठीक है कि प्रत्येक आदमी नगर में घर-घर घूम कर प्रेरणा नहीं कर सकता मगर अपने पड़ोसियों को, मिलने-जुलने वालों को और खास तौर पर अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगों को तो प्रेरणा कर सकते हैं। इतनी दलाली करना तो प्रत्येक धर्म-प्रेमी का कर्तव्य है।

देव-दुंदुभि की बात सुन कर कोई कह सकता है कि जब देवगण आकाश मे दुंदुभिनाद करते हैं तो अयतना होती है अथवा नहीं ? अगर अयतना होती है तो भगवान् मना क्यों नहीं कर देते ? या जहाँ दुंदुभिनाद होता है वहाँ जाते ही क्यों हैं ? और यदि अयतना नहीं होती तो आजकल साधुओं के स्वागत में ढोल आदि वाजे बजवाने में क्या हानि है ? इस संबंध में यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि तीर्थंकरों की रीति और है और साधारण साधुओं की बात और है। तीर्थंकर भगवान् कल्पातीत हैं और हम लोग कल्पातीत नहीं है। भगवान् के लिए कोई निश्चित कल्प नहीं है। वे अपने विशिष्ट ज्ञान से देख कर जो योग्य समझते हैं उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं, किन्तु सामान्य साधु तीर्थंकर भगवान् की बराबरी नहीं कर सकता।

तीर्थंकर भगवान् आध्यात्मिक उत्थान की उच्चतर भूमिका पर पहुँचे हुए होते है। उनकी रग-रग में विरक्ति भरी होती है। इन्द्रियों के अनुकूल एवं मनोज्ञ विषय उनके अन्तःकरण में अणुमात्र भी अनुराग उत्पन्न नहीं कर सकते और इन्द्रियाँ

के प्रतिकूल अमनोज्ञ विषय विषाद उत्पन्न करने में असमर्थ है। वे सागरवर गंभीर होते हैं, सामान्य मुनि इस ऊंचाई को प्राप्त करने का अभिलाषी है और उसके लिए प्रयत्नशील भी है, किन्तु वर्तमान में वहाँ तक पहुँचना नहीं होता। अतएव उसे विकारजनित निमित्तों से बच-बच कर चलना पड़ता है। तीर्थङ्कर भगवान् काजल की कोठरी में प्रवेश करके भी बिना कालिख की रेखा लगे बाहर निकलने में समर्थ है, साधारण मुनि की आत्मा इतनी बलवान नहीं होती।

साधारण मुनि अनादिकालीन काषायिक संस्कारों को निर्बल और निष्प्राण बनाने का पुनः-पुनः प्रयत्न करता हुआ भी, निमित्त मिलने पर, कषायो के उदय के अधीन हो जाता है। अतएव कषाय के निमित्त से बचना ही उसके लिए लाभ-प्रद है। किन्तु तीर्थङ्कर भगवान् की महिमा निराली है। कोई भी निमित्त चाहे वह कितना ही प्रबल हो, उन्हें अपने अभिभूत नहीं कर सकता। इस कारण वे कल्पातीत है और सामान्य मुनि कल्पस्थित हैं।

किसी के स्वागत में बाजा बजाना उसके अहकार को जागृत कर सकता है। अतएव अहंकारवृत्ति के उद्रेक से बचने के लिए भी साधु अपने स्वागत मे बाजे बजवाने का निषेध करते है।

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात—
संतानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥३३॥

अन्वयार्थ.—हे नाथ ! गंधोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता-गन्धोदक की बून्दों से मंगलिक और मंद-मद वायु से पतन करने वाली। रुद्धा–देदीप्यमान-प्रशसनीय और। दिव्या–दिव्य ऐसी। मन्दारसुन्दर-नमेरू सुपरिजात सन्तानकादि कुसुमोत्कर वृष्टि मदार, सुन्दर, नमेरु सुपरिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षो के फूलो की वर्षा। दिवः–आकाश से। पतति–पड़ती है। वा अथवा। ते आपके। वचसां–वचनो की। तति.–पक्ति ही फैलती है।

भावार्थः—हे प्रभो ! आपके समवसरण मे गन्धोदक पानी से भीगे हुए मन्द मन्द पवन से प्रेरित मन्दार आदि पुष्पों की वर्षा होती है वे यह सूचना देते हैं कि म नो भगवान वीतराग के वचन ही पुष्प का रूप धारण करके फैल गये हो ।३३। यह छठे प्रातिहार्य का वर्णन है।

विवेचनः—भाइयो ! भगवान् जब समवसरण में विराज-मान होते है तो देवता अत्यन्त सुन्दर और श्वेत वर्ण के पुष्पों की रचना करते हैं। यहां भगवान ऋषभदेवजी की स्तुति का प्रकरण है, अतः उनके समवसरण में फूलों की वर्षा का वर्णन किया गया है। मगर यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य तीर्थङ्करों के समवसरण में पुष्पों की वर्षा नहीं होती। सभी

तीर्थङ्करों की महिमा समान होती है और देवगण सबकी समान भाव से भक्ति करते हैं। सभी के समवसरण की रचना एक सी होती है। अतः सभी तीर्थंङ्करों के समवसरण में देवों द्वारा कल्पवृक्षों के पुष्पों की वर्षा हुआ करती है।

फूल पांच रंग के होते हैं–काले, नीले, पीले, लाल और सफेद। किन्तु भगवान् के समवसरण में सफेद रग के फूल मानो श्रोताओं को यह संकेत करते है कि हे भव्य जीवों! इन सफ़ेद फूलों को देखो और अपने मन को ऐसा ही निर्मल धवल बनाओ!

भाइयो! संसार में नाना प्रकार के प्राणी है। उन सबके चित्त की अलग-अलग परिणतियां होती है। जैसे इन पुष्पों के रंग अलग-अलग होते है उसी प्रकार अलग-अलग भावना वाले जीव इस संसार मे विद्यमान है।

(१) कुछ लोग मायावी भावना वाले, हत्यारे, दुष्ट और निर्दयी होते हैं। वे काले फूल के समान है।

(२) कुछ लोग मायावी और धूर्त होते हैं। वे नील वर्ण के पुष्प के सदृश है।

(३) कुछ लोग सरल और सादगी पसन्द होते हैं। उन्हें अरूण रंग के समान समझना चाहिए।

(४) कुछ लोग धर्म की भावना वाले, सदाचारी और भद्र होते हैं, वे पीतवर्ण के पुष्प के समान माने गये है।

(५) जिनकी आत्मा अत्यन्त पवित्र है, जिनके रोम-रोम से करुणा झरती है, जो संयम और सदाचार की मूर्ति है, जिनका जीवन सेवाव्रत से परिपूर्ण है, वे श्वेत वर्ण के पुष्प जैसे है।

इन सबमें सफेद अर्थात स्वच्छ निर्मल हृदय ही सर्वोत्तम है और काला हृदय सबसे अधम है जब कोई किसी के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करना चाहता है और तिरस्कार का भाव व्यक्त करना चाहता है तो उसे काले झंडे दिखलाता है। जिसका हृदय काला है, समझना चाहिए कि उसकी मानसिक परिणति अधम है और उसका हृदय स्वयं ही उसका तिरस्कार कर रहा है वह अपने आपको काला झंडा दिखा रहा है। दूसरे लोग चाहे उसके इस तिरस्कार को न देखें किन्तु उसकी आत्मा तो देखती है।

जिसका मन अत्यन्त मलिन है, जिसका दिल काला है, उस पर दूसरो के उपदेश का और सन्तों के समागम का प्रभाव नहीं पड़ता। उक्ति प्रसिद्ध है:—

"सूरदास की काली कंबलिया, चढ़े न दूजो रंग।"

जैसे काले कपड़े पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार काले हृदय पर अच्छी शिक्षाओं का असर नहीं पड़ता। शास्त्र में इस प्रकार की कलुषित मनोवृत्ति को कृष्ण लेश्या कहते हैं। लेश्या छः मानी गई है।

(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या और (६) शुक्ल लेश्या। यह छःह लेश्याएं है। इनमें से पहली तीन लेश्याए अधर्म लेश्याएं या अप्रशस्त लेश्याएं हैं और अन्त की तीन धर्म या प्रशस्त लेश्याएं कहलाती है। इनमें उत्तरोत्तर क्रम से प्रशस्तपना, आता जाता है। यानि कृष्ण लेश्या सब से अधम है, उसकी अपेक्षा नील लेश्या और नील लेश्या की अपेक्षा कापोत लेश्या कुछ विशुद्ध है। शुक्ल लेश्या सबसे विशुद्ध है।

भाइयो! यहां सुख है और दुःख है। धूप है और छाया है। जैसा किया है, वैसा भोग रहे हो और जैसा करोगे वैसा भोगना पड़ेगा। इसलिये हृदय में कालापन कृष्ण लेश्या नहीं रखना चाहिए। हृदय को साफ और स्वच्छ रखने में ही कल्याण है। सदा सावधान रहो कि एक क्षण के लिए भी तुम्हारी भावना मलीन न हो पावे।

गहराई से सोचोगे तो जरूर मालूम हो जायगा कि मनुष्य के जीवन मे भावनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। मूल मे सभी मनुष्य सरीखे होते है। फिर भी एक बुरा और दूसरा भला क्यों कहलाता है। एक उत्तम और दूसरा अधम क्यों बन जाता है? इसका उत्तर यही है कि भावनाओं के भेद से मनुष्य मे यह भेद होता है। भावना मनुष्य के जीवन का निर्माण करने का एक सांचा है। व्यक्ति का व्यक्तित्व भावनाओं के यन्त्र में ढलकर ही निर्मित होता है। मनुष्य के हृदय मे सर्वप्रथम अच्छे बुरे विचार उत्पन्न होते है। उन विचारों से प्रेरित होकर वह

अच्छे या बुरे काम करता है और फिर अपने जीवन को अच्छा या बुरा बना लेता है।

भाइयो ! भावना की शुद्धि के बिना कोई भी क्रिया पूरा फल नहीं दे सकती। कहा भी है—यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः ' अर्थात् कोई कितनी ही उग्र क्रिया क्यों न करे अगर उनके साथ भावना नहीं है, बिना मन के बोझ समझकर की जा रही है तो वह सफल नहीं होगी।"

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥३४॥

अन्वयार्थः—हे विभो ! प्रोद्यद्दिवाकर निरंतरभूरिसंख्या-देदीप्यमान सघन और अनेक संख्या वाले सूर्य के तुल्य । ते विभोः-तुम्हारे । शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा–शोभायमान प्रभामंडल की अतिशयप्रभा । लोकत्रयद्युतिमताम्-तीनो लोको के प्रकाशमान पदार्थों की । द्युतिम्-द्युति को । आक्षिपन्ति–तिरस्कार करती हुई । सोमसौम्यामपि–चन्द्रमा के समान सौम्य होने पर भी । दीप्त्या–अपनी दीप्ति के द्वारा । निशाम्-अपि–रात्रि को भी । जयति–जीतती है ।

भावार्थः—प्रभो आप जहां विराजते है वहां आपके मुखारविन्द के आसपास जो तेजस्वी प्रभा मंडल फैल जाता है, उसे 'भामंडल' कह कर वर्णन किया जाता है। यह भामंडल सूर्य कांति के समान तेजस्वी होने पर भी आतापकारक नहीं, किन्तु चन्द्रज्योत्स्ना की तरह सौम्यता प्रसारक आनन्ददाता और अंधकारनाशक है जो आपकी वीतरागता को प्रकट करता है। ।३४। यह सातवे प्रातिहार्य का वर्णन है।

विवेचनः—भाइयो ! भगवान् जब समवसरण में विराजमान होते है तो उनके पीछे एक भामंडल होता है। वह बड़ा ही सुन्दर और प्रकाशमान होता है। उसके सामने अनेक सूर्यो और चन्द्रमाओं का प्रकाश भी फीका पड़ जाता है। उस सौम्य प्रकाश

से परिपूर्ण भामंडल के कारण भगवान् चतुरानन दृष्टिगोचर होते हैं अर्थात् जिस किसी ओर से भगवान् के दर्शन किये जाएं भगवान् का मुख उसी ओर मालूम होता है।

भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिमकाल में इस भूमि पर अवतरित हुए थे। उस समय तक अकर्म भूमि (भोग भूमि) की व्यवस्था चल रही थी। उस समय के नरनारी 'जुगलिया' कहलाते थे। क्योंकि वे युगल-रूप में साथ-साथ उत्पन्न होते थे और साथ-साथ ही देहत्याग करते थे। उस समय की जनता बहुत सादगी के साथ जीवन व्यतीत करती थी। यद्यपि उस समय धर्म की स्थापना नहीं हुई थी फिर भी जनता प्रकृति से ही भद्र और मन्द कषाय वाली थी। सब लोग बड़ी शान्ति के साथ जीवन-निर्वाह करते थे। झूठ, कपट बेइमानी और व्यभिचार का दौर दौरा नहीं था।

उस समय दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। अकर्म भूमि की जनता की समस्त आवश्यकताएं इन कल्पवृक्षों से ही पूर्ण होती थी। लोगों को न ज्यादा लोभ था, न तृष्णा थी। संतोषमय जीवन था। परन्तु काल के प्रभाव से धीरे-धीरे कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होने लगी और एक समय ऐसा आया कि उनसे फलों की प्राप्ति होना बन्द हो गया। अकर्म भूमि के लोग तब तक जीविका का कोई दूसरा उपाय नहीं जानते थे। अतएव वे घोर संकट में पड़ गये। उस समय भगवान ऋषभदेव ही वहां सबसे बड़े ज्ञानी थे। उन्हें जन्म से ही विशिष्ट अवधिज्ञान प्राप्त था। भगवान् महादयालु भी थे। उनके विशाल हृदय से करुणा की अखंड धारा प्रवाहित होती रहती थी। उनके असा-

धारण और उच्च व्यक्तित्व की सब पर गहरी छाप थी। सभी लोग उन्हें अपना पथ प्रदर्शक, नेता, त्राता और आश्रयदाता मानते थे। उनके महान व्यक्तित्व पर सभी को श्रद्धा थी। वे सबके अकारण बन्धु थे। भगवान् ने लोगों पर अपनी अमृतभरी वाणी डाली और दया से प्रेरित होकर प्रजा के हित और सुख के लिए जीविका के मार्ग बतलाये। असि, मसि, कृषि की आजीविका स्थापित की। भगवान् ने अनाज बोना, तैय्यार करना पकाना और खाना सिखलाया। अपने हाथों से मिट्टी के बर्तन बनाकर कुंभकार कला का बीज रोपा तथा धीरे धीरे समस्त कलाएं और विद्याएं सिखलाई।

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥३५॥

अन्वयार्थः— हे जिनदेव ! स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः- स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग को अन्वेषण करने मे इष्ट (आवश्यक) अथवा स्वर्ग-मोक्ष मार्ग को शोधने वाले मुनियो को इष्ट तथा त्रिलोक्या-तीन लोक के । सद्धर्मतत्त्वकथनैक पटुः- समीचीन धर्म के तत्त्वो को कहने में एक मात्र चतुर और । विशदार्थ सर्व भाषा स्वभाव परिणाम गुणैः - निर्मल अर्थ और उनका समस्त भाषाओं के परिणमन रूप जो गुण, उन गुणो से । प्रयोज्यः - जिसकी योजना होती हैं, ऐसी । ते—आपकी । दिव्यध्वनि, - दिव्य ध्वनि । भवति होती है ।

भावार्थः—हे प्रभो ! आप समवसरण में विराज कर जिस वाणी का विस्तार करते हैं, वह स्वर्ग और मोक्ष मार्ग को बतलाने वाली है, धर्म तत्त्वों का प्रतिपादन करने में दृढ़ और विशद् अर्थ की द्योतक एवं सर्वभाषानुगामिनी है अर्थात् प्रत्येक श्रोता अपनी भाषा में समझ सके ऐसी सरल है, जो वचन के पैंतीस अतिशय से भी युक्त है ॥ ३५ ॥ यह भगवान् के अष्टम प्रातिहार्य का वर्णन है ।

विवेचनः—भाइयों ! भगवान् की उपदेश-सभा सम-वसरण कहलाती है। भगवान् जब समवसरण में विराजमान होते थे तब उनक मुख-चन्द्र से दिव्य-ध्वनि का पीयूष-प्रवाह

बरसता था। भगवान् की वाणी स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के स्वरूप को बतलाती थी और उनके उपायों पर भी बहुत सुन्दररूप से प्रकाश डालती थी। भगवान् की दिव्य-ध्वनि सच्चे धर्म का मर्म प्रकट करने में इतनी समर्थ थी कि तीर्थंकरों को छोड़ कर और किसी मे उतना सामर्थ्य नहीं। भगवान् की वाणी अद्वितीय थी असाधारण थी। उस वाणी की अद्भुत विशेषता यह भी थी कि किसी भी देश का और किसी भी भाषा का जानकार क्यों न हो, सभी उसे आसानी से, समान रूप से समझ जाते थे। यह नहीं कि भगवान् की वाणी सुने और कह सके कि वह हमारी समझ में नहीं आई।

लोकोत्तर प्रकाश के अपरिमित-पुञ्ज भगवान् आदिनाथ की वाणी उस युग मे खिरी थी जब इस भूतल पर धर्म की कल्पना तक किसी को नहीं थी। पहले कहा जा चुका है कि भगवान् के युग मे ही भारतवर्ष में कर्मभूमि की प्रतिष्ठा हुई थी। तभी सामाजिक व्यवस्थाएं कायम हुई थी और तभी राज-नीति का जन्म हुआ था। जैसे इन व्यवस्थाओं के आद्य प्रणेता भगवान् आदिनाथ थे उसी प्रकार धर्मनीति के प्रथम प्रवर्तक भी वही थे। भगवान ने एक लम्बे अर्से तक कठिन तपस्या की। उस तपस्या के फलस्वरूप उनकी आत्मा परिपूर्ण प्रकाश से प्रकाशमान हो उठी। एक अखंड, अविकल और अलौकिक ज्योति उनमे प्रकट हुई उसे जैनागमों में केवलज्ञान कहते हैं। इसके बाद उन्होंने जगत के कल्याण के लिये, उन्हें आत्म-कल्याण का प्रशस्त और समीचीन मार्ग बतलाने के लिए धर्मोपदेश देना आरम्भ किया भगवान् की सुधामयी वाणी श्रवण करने के लिए सभी श्रेणियों के मनुष्य आते ही थे। सब प्रकार

के देवता यहां तक कि पशु भी समवसरण में उपस्थित होते थे। कहां मनुष्यों की भाषा और कहां तिर्यंचों की भाषा। कितना अन्तर ? मगर भगवान् की वाणी का अतिशय तो देखिये कि सब सुनने वाले ऐसा अनुभव करते थे मानो भगवान हमारी भाषा में उपदेश कर रहे हैं।

यह तो भगवान् की वाणी की भाषा सम्बन्धी विशेषता है। उनकी वाणी की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण विशेषता अर्थ-सम्बन्धी है। भगवान् ने अपने निर्मल ज्ञान में समस्त तत्वों का यथार्थ स्वरूप जाना था, अतएव उनकी वाणी के द्वारा तत्वों का यथार्थ स्वरूप ही प्रकट हुआ। उन्होंने छः द्रव्यों तथा नौ तत्वों का ठीक-ठीक स्वरूप संसार के सामने रखा। साथ ही धर्म का असली स्वरूप बतला कर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग पर आरूढ़ किया।

भाइयो ! देवगण बड़े चाव और भाव से समवसरण की सुन्दर रचना करते थे। रजत, स्वर्ण और रत्नों के बने समवसरण के तीन प्राकार मानो यह घोषणा करते हैं कि तीर्थङ्कर भगवान् का द्वार तीनों लोकों के प्राणियों के लिये खुला है। वहां जात-पांत का कोई भेद नहीं है। अमुक वर्ण के लोग ही प्रभु की वाणी सुन सकते हैं और अमुक लोगों को वाणी सुनने का अधिकार नहीं है-ऐसा कोई बनावटी बन्धन वहां नहीं होता। यह नहीं कि शूद्र के कान में भगवान् की वाणी पहुँच जाय तो उसके कान में उबलता हुआ शीशा भर दिया जाय। ऐसा नहीं कि भगवान् के उपदेशों से धनवान् या प्रतिष्ठित लोग ही लाभ उठा सकें और निर्धन तथा तिरस्कृत समझे जाने वालों का प्रवेश निषिद्ध हो।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य समाज ने जितनी भी कृत्रिम दीवारें आज खड़ी कर रक्खी हैं, भगवान् के समवसरण मे उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। वहां मनुष्यमात्र का दर्जा समान है। इतना ही नहीं, प्रभु की दृष्टि में ता मनुष्यों और तिर्यंचों के बीच भी कोई स्वाभाविक दीवाल नहीं है। अतएव समवसरण मे मनुष्यों की भांति तिर्यंचों को भी स्थान मिलता है। उन्हें भगवान की पुनीत वाणी सुनने का उतना ही अधिकार है, जितना देवों और मनुष्यों को हैं।

आज लोगों की दृष्टि अत्यन्त सकुचित है। परन्तु यह आज के युग की देन नहीं है, प्राचीनकाल से चले आये संकीर्ण संस्कारों का फल है। हमारे कुछ पड़ौसी बन्धुओं ने जात-पांत के ऐसे अखाड़े खड़े किये है और उन्हें धर्म का ऐसा रूप दे दिया है कि मानव जाति छिन्न-भिन्न हो गई। ऐसा करने में वर्गगत स्वार्थ की भावना ने गहरा असर डाला है। जातिगत अभिमान भी उसका कारण रहा है। इसके प्रभाव से ऐसे-ऐसे विधान बनाये गये कि जिन्हें आज सुनकर भी आश्चर्य होता है। मनुष्यों के एक बड़े समूह को वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार नहीं है यह जानकर क्या आपको यह नहीं लगता कि यह विधान किसी न्याय-सगत आधार पर नहीं खड़ा है? इसके मूल मे स्वार्थ और द्वेष भाव ही भरा हुआ है। लेकिन वीतराग भगवान् के दरबार में ऐसा कोई भेदभाव नहीं होता। वहाँ मनुष्यमात्र समान रूप से अधिकारी हैं।

भाइयो! शास्त्रों में भगवान् तीर्थङ्कर की वाणी की पैंतीस विशेषताएं बतलाई गई है। परन्तु यहां संक्षेप में ही ऐसी मूल-

भूत विशिष्टताओं का उल्लेख कर दिया गया है, जिनसे अन्यान्य विशेषताओं का भी अनुमान किया जा सके। प्रभु की वाणी सबके लिए हितकारी और सुखकारी थी। वह वाणी अनन्त संसार-सागर में डूबने वालों के लिए नौका के समान है। मिथ्यात्व व अज्ञान के गहरे अंधकार में भटकने और ठोकरे खाने वालों के लिये प्रकाश समान है। वही मुमुक्षुओं का सहारा है। आत्म-कल्याण की अभिलाषा रखने वालों के लिये अवलंबन है। उस वाणी का अवलंबन करके असंख्य भव्य-जीव अपना कल्याण-साधन कर चुके है। वर्तमानकाल मे उसी का सहारा लेकर अनेक मुमुक्षु अपना मार्ग सकुशल तय कर रहे हैं और अनन्त भविष्य मे जब कभी किसी आत्मा का कल्याण होगा, उसी पवित्रतम वाणी की बदौलत होगा।

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाऽभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

अन्वयार्थः—जिनेन्द्र-हे जिनेन्द्र ! उन्निद्रहेमनवपंकजपुंजकान्ति-फूले हुए नवीन कमल के सदृश कान्ति धारण करने वाले और । पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ-चारो ओर बिखरती हुई नखो की किरणो के समूह से सुन्दर ऐसे । तव-आपके । पादौ-चरण । यत्र-जहा पर । पदानि-पग । धत्तः-रखते हैं । तत्र-वहां पर । विबुधा-देवगण । पद्मानि-कमलो को । परिकल्पयन्ति-परिकलित करते है अर्थात् कमलो की रचना करते है ।

भावार्थः—हे नाथ ! खिले हुए सुवणवर्णी कमलों के समूह की कान्ति को जीतने वाले नख की पंक्तियुक्त आपके चरण-कमल जहां आप रखते हैं, वहां देवगण पद्म कमलों की रचना करते हैं ॥३६॥ यह भी प्रातिहार्य माना गया है। कोई-कोई वाणी के अतिशय को प्रातिहार्य न गिनते हुए वाणी के अन्तर्गत ही इसे मानते है ।

विवेचनः—भाइयो ! जब भगवान तीर्थङ्कर धर्मोपदेश देते है, गांव, नगर, पुर, पाटन आदि विचरते हैं तब देवगण भगवान् के चरणों के नीचे सुवर्ण कमलों की रचना करते है। भगवान के चरण स्वयं बड़े ही सुन्दर होते हैं। उनके चरणों के नाखून खिले हुए नवीन सुवर्ण कमलों के समूह की कान्ति के समान चमक-

दार होते है। भगवान् के चरणों के नखों में एक अपूर्व आभा होती है। वह आभा मानो कहती है कि प्रभो ! आप क्यों कष्ट करते है। जगत का अन्धकार तो मैं ही दूर कर दूंगी।

भाइयो ! यह बात तो सभी को ज्ञात है कि प्रभु सचित्त के त्यागी थे। वे स्वय किसी सचित्त वस्तु का सेवन नहीं करते थे, यही नहीं बल्कि भगवान् की उपासना के लिए जो राजा महाराजा आदि जाते थे, वे भी उनके निकट पहुँचकर पांच अभिगम करते थे इन अभिगमों में एक यह भी है कि सचित्त फूलमाला आदि वस्तुओ का त्याग करके ही भगवान् की सेवा में उपस्थित होना चाहिए।

ऐसी स्थिति मे सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि देवों द्वारा निर्मित कमल सचित्त नहीं, अचित्त होते थे। भगवान् के परम भक्त और विवेकवान देवों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे सचित्त के त्यागी भगवान् के चरणों के तले सचित्त पुष्पों का निर्माण करे।

भाइयो ! यह भी भगवान् का एक अतिशय है। सभी तीर्थङ्करों में यह अतिशय होता है। यह अतिशय तीर्थङ्करों के पूर्वजन्म की तपस्या का फल है। उस तपस्या के फलस्वरूप सब प्रकार की कामनाओं से रहित होने पर भी यह वैभव भगवान् के चरणों में लोटता है। ऐसे तीर्थङ्कर देव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

तीर्थङ्कर का पद संसार में सर्वोत्कृष्ट पुण्य का फल है। सर्वोत्कृष्ट पुण्य की प्राप्ति के लिए सर्वोत्कृष्ट करनी की आवश्य-

कता होती है। एक नहीं, अनेक जन्मों की विशिष्ट साधना और तपस्या के प्रभाव से आत्मा मे ऐसे सुसंस्कार उत्पन्न होते है जिनसे तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है। शास्त्र में तीर्थङ्कर प्रकृति बांधने के बीस बोल बतलाये है। उसका अर्थ यह नहीं है कि बीसों बोलों का सेवन करने से ही तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। बीस बोलों मे से एक बोल का भी सर्वोत्कृष्ट रूपमें सेवन किया जाय, उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो इस महान पद की प्राप्ति हो सकती है। उन्हें आप पढ़े उन पर विचार करे और उन पर अमल करे। आपके भावों में जितनी रसायन होगी, उतना ही फल आपको प्राप्त हो जायगा।

तीर्थङ्कर की एकमात्र गति मुक्ति की है। जिस महान् से महान पुण्यशाली आत्मा को तीर्थङ्कर प्रकृति का उदय हो चुका है, वह मोक्ष में ही जाता है, अन्य किसी गति मे नहीं जाता।

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !,
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यादृक्प्रभा दिनकृतप्रहतान्धकारा,
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥३७॥

अन्वयार्थः—जिनेन्द्र हे जिनेन्द्र ! धर्मोपदेशनविधौ धर्मोपदेश के विधान मे अर्थात धर्म का उपदेश देते समय समवसरण में। इत्थम्-पूर्वोक्त प्रकार से। तव-आपकी। विभूतिः-समृद्धि। यथा-ऐसी। अभूत-हुई। तथा-वैसी। परस्य-दूसरे देवो की। न-नहो हुई सो ठीक ही है। दिनकृत सूर्य की। यादृक-जैसी। प्रहतान्धकारा अन्धकार को नष्ट करने वाली। प्रभा-प्रभा होती है। तादृक-वैसी प्रभा। विकाशिनः-प्रकाशमान। ग्रहगणस्य अपि तारागणो की भी। कुतः-कहा से होवे?

भावार्थः—धर्मोपदेश देते समय अष्ट महाप्रातिहार्यादि विभूति जैसी आपकी होती है, वैसे किसी अन्य दूसरे देव माने जाने वाले के नहीं होती। जैसे घनान्धकार को नाश करने वाली प्रभा (कान्ति) जैसे सूर्य की होती है, वेसी दूसरे किसी भी ग्रह नक्षत्रादि की नहीं हो सकती ॥३७॥

विवेचनः—भाइयो ! सूर्य का उदय होने पर लोक में सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है। तारागण भी प्रकाश तो करते हैं, परन्तु उनका प्रकाश उतना उज्ज्वल नहीं होता। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान में रूपी, अरूपी, सूक्ष्म, स्थूल, जड़ चेतन, द्रव्य गुण और पर्याय आदि समस्त भाव यथावत् प्रतिभासित होते हैं, अतएव उनके उपदेश में सभी का यथार्थ स्वरूप

प्रकाशित होता है। जो धर्मोपदेशक अल्पज्ञ है और अपनी अल्पज्ञता को नहीं जानता अथवा जानता हुआ भी सर्वज्ञ का अनुगमन नहीं करता, उसका उपदेश न तो सब पदार्थों को प्रकाशित कर सकता है और न यथार्थ ही होता है।

इस कथन की प्रतीति का प्रत्यक्ष प्रमाण अनेकान्तवाद और एकान्तवाद है। सर्वज्ञ प्रभु ने वस्तु के समस्त अनन्त धर्मा-गुणों को जानकर प्रतिपादन किया है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है, जबकि अल्पज्ञों के उपदेश में कहीं यह बात दृष्टि-गोचर नहीं होती। इस एक ही उदाहरण से सर्वज्ञ और अल्पज्ञ के उपदेश का अन्तर समझा जा सकता है।

यहां भगवान् को जो सूर्य की उपमा दी है, वह पूर्ण नहीं है। सूर्य सिर्फ द्रव्य अन्धकार को नष्ट करता है. भगवान् अपने उपदेश के द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करते हैं। सूर्य कभी उदित होता है और कभी अस्त हो जाता है परन्तु भगवान् का ज्ञान सदैव प्रकाशमान रहता है। सघन मेघ सूर्य के सामने आकर उसके प्रकाश को आच्छादित कर सकते हैं, मगर भगवान् का ज्ञान कभी आच्छादित नहीं हो सकता, इस प्रकार भगवान् के ज्ञान की महिमा सूर्य से भी बढ़कर है। इसी स्तुति में अन्यत्र कहा है:— "सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके" अर्थात हे मुनियों के नाथ ! आपकी महिमा इस लोक में सूर्य से भी बढ़ कर है।

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—हे नाथ ! श्च्योन्तन्मदाविलविलोलकपोलमूल-मत्तभ्रमद्भ्रमरनाद विवृद्धकोपम्—झरते हुए मद से जिसके गंडस्थल मलीन तथा चंचल हो रहे हैं और उन पर उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए भोरे अपने शब्दो से जिसका क्रोध बढा रहे हैं, ऐसे । ऐरावताभम्-ऐरावत हाथी के समान आकार वाले तथा । उद्धतम्—अंकुशादि को नही मानने वाले, उद्धत और । आपतन्तम्—उपर पड़ते हुए । इभम्-हाथी को । दृष्टवा-देखकर । भवत् आश्रितानाम्-आपके आश्रय मे रहने वाले पुरुषो को । भयम्-भय । नो नही । भवति-होता है ।

भावार्थः—हे देव ! जिन्होंने आपका आश्रय ग्रहण कर लिया है, वे भक्तजन झरते हुए मद से जिसके कपोल (गाल) मलीन तथा चंचल हो रहे है और उन पर उन्मत्त भंवरे गूंजने के कारण जिसका क्रोध बढ़ गया है उस हाथी को सामने आता हुआ देखकर भी भयभीत नहीं होते । यह आपकी भक्ति का ही महात्म्य है ॥३८॥

विवेचनः—भाइयो ! भगवान् के नाम मे अद्भुत शक्ति है । कल्पना कीजिये कि कोई व्यक्ति कार्यवश किसी जंगल, गांव या शहर की गली में होकर जा रहा है । सामने से एक मदोन्मत्त और उद्धत हाथी आ गया । हाथी मद से मतवाला हो रहा है उसके गंडस्थलों से मद रहा है चूते हुए मद की गंध से मे बहुतेरे भ्रमर भी मतवाले बन रहे है । मतवाले भौंरे गुन-गुन

करके शोर मचा रहे है। भौरों के शोर से हाथी का क्रोध बहुत अधिक बढ गया है। हाथी कोई मामूली नहीं, ऐरावत के समान विशालकाय और शक्तिशाली है, मतवाला और कुपित है। ऐसी स्थिति मे अगर कोई मनुष्य उसके सामने आ जाए तो वह क्षण भर मे उसका कचूमर निकाल सकता है। बलवान से बलवान और बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य भी ऐसे हाथी के सामने क्या कर सकता है?

किन्तु जो भव्यजीव भगवान् ऋषभदेव के भक्त है, जिन्होने प्रभु के पाद-पद्मों मे अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है, जिन्होंने अपनी ताकत का घमंड छोड़कर भगवान् के नाम का सहारा पकड़ लिया है, उन्हे ऐसा भयानक हाथी सामने आया देखकर तनिक भी भय नहीं होता। उन्हें विकराल से विकराल हाथी भी खरगोश के समान प्रतीत होता है। भगवान् का ध्यान करके "ॐ उसभ" का तीन बार उच्चारण करने से हाथी उसे नहीं सताता। वह आनन्दपूर्वक अपने घर पहुँच जाता है। उसे कोई कष्ट नहीं होता। यह भगवान के स्मरण की महिमा है। भगवान् ऋषभदेवजी के नाम में ही जब इतनी महिमा है तो साक्षात् भगवान् का तो कहना ही क्या है? ऐसे भगवान् ऋषभदेव का हमारा बार-बार नमस्कार हो!

भाइयो! मनुष्यों में सबसे पहले श्रद्धा होनी चाहिए। संसार में श्रद्धा बड़ी चीज है। जो सपूर्ण भाव से श्रद्धामय होता है, वही अपने लक्ष्य मे सफलता पाता है। आत्मा की दृढ़ता होनी चाहिये। जिसमे सच्चा आत्मबल है, कोई विघ्न उसके सामने बाधक नहीं बन सकता।

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥३६॥

अन्वयार्थः—हे नाथ ! भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-मुक्ताफलप्रकर भूषितभूमिभागः-विदारे हुए हाथियो के मस्तकों मे जो रक्त से भीगे हुए उज्ज्वल मोती पड़ते है उनके समूह से जिसने पृथ्वी के भाग शोभित कर दिये है, ऐसा तथा। बद्धक्रमः—आक्रमण करने के लिये बांधी है चौकड़ा अथवा छलांग जिसने ऐसा। हरिणाधिपःअपि—सिंह भी। क्रमगतम्—पंजे मे पडे हुए। ते—आपके। क्रमयुगाचलसंश्रित—दोनों चरणरूपी पर्वतों का आश्रय लेने वाले मनुष्य पर। न आक्रामति—आक्रमण नही करता है।

भावार्थः—हे स्वामिन् ! जिसने आपके चरण कमल रूप युगल पर्वतों का आश्रय ग्रहण कर रखा है, उस पर मदोन्मत हाथियों के कुम्भस्थल (मस्तक) को विदारने के कारण रक्त-मिश्रित मोतियों से भूमि की शोभा बढ़ गई है ऐसा पराक्रमी सिंह भी आक्रमण नहीं कर सकता ॥३६।

विवेचनः—भाइयो ! भोले लोग समझते हैं कि भक्तों पर जब कोई संकट आकर पड़ता है तब भगवान् दौड़े आते हैं और अपने भक्त की रक्षा करते हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि भगवद्भक्तों की रक्षा अवश्य होती है, मगर इसके लिये भगवान् को भागकर आने की आवश्यकता नहीं होती। अगर

भक्त की रक्षा के लिये भगवान् को सदैव भागकर आना पड़ता हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त सदा इतना निर्बल और असहाय बना रहता है कि भगवान् के बिना उसका काम कभी चल नहीं सकता। अगर यही बात है तो भगवान् की भक्ति का क्या लाभ हुआ? भक्ति करने पर भी अगर भक्त में शक्ति नहीं आती तो मानना पड़ेगा कि या तो उसकी भक्ति में त्रुटि है या जिसकी भक्ति की जा रही है उनमें स्वयं शक्ति नहीं है। वास्तव मे वही भक्ति सच्ची है, जिससे भक्त मे आत्मबल प्रकट हो जाता है और वह स्वयं बलशाली होकर समर्थ बन जाता है।

जैनधर्म का मन्तव्य यही है वह नहीं कहता कि भक्तों की रक्षा के लिये भगवान् को भागकर आना पड़ता है। जिनेश्वर देव की भक्ति करने से भक्त की आत्मा ऐसी बलशाली और पुण्यपूरित हो जाती है कि संकट चाहे कितना ही क्यों न हो, वह उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। जिसने प्रभु ऋषभदेव के चरणों की शरण गही है, उसकी शक्ति सिंह की पाशविक शक्ति को परास्त कर देती है। जो बात ऋषभदेव की भक्ति में में है, वही अन्य तीर्थङ्करों की भक्ति में समझना चाहिये।

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सन्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्त्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

अन्वयार्थ:—हे भगवन् ! कल्पांतकालपवनोद्धतवह्निकल्पम्-प्रलय के पवन से उत्तेजित हुई अग्नि के सदृश तथा। स्फुलिंगम्-उड रहे है उपर को फुलिंगे जिसमें ऐसी। ज्वलितम्-जलती हुई। उज्जवलम्-उज्ज्वल और। अशेषम्-सपूर्ण। विश्वम् संसार को। जिघत्सुम् इव-नाश करने की जिसकी इच्छा ही हो ऐसी सम्मुखम्-सामने। आपतन्तम्-आती हुई। दावानलम्-दवाग्नि को। त्वन्नामकीर्तनजलम्-आपके नाम का कीर्तनरूपी जल। शमयति-शान्त करता है।

भावार्थ:—हे प्रभु ! प्रचण्ड पवन के झोकों से उत्तेजित हो रहा है, जिसके तिनके उपर उछल उछल कर संसार को भयभीत बना रहे है और जो अपनी तीव्र ज्वालाओं से समस्त संसार को हड़प जाने की प्रतीति करा रहा है ऐसा दुःसह्य अग्नि भी आपके नामोत्कीर्तन रूपी जल से शान्त हो जाता है। जैसे मनो तेल भरे हुए कड़ाह में बावना चन्दन का एक बिन्दु भी पड़ जाये तो वह शान्त हो जाता है वैसे ही आपके पवित्र नाम में भी अपूर्व शक्ति है ।४०।

विवेचन:—भाइयो ! संपूर्ण जंगल दावानल से सुलग उठता है, मगर जंगल में दावानल सदैव नहीं सुलगता रहता। कभी-कभी वृक्षों की आपस की रगड़ से या किसी मनुष्य के

द्वारा एक जगह आग लगाने से दावानल प्रज्ज्वलित होता है। मगर जरा इस संसार की ओर दृष्टि डालिये। संसार में निरन्तर प्रतिपल राग द्वेष की भयानक आग भड़कती रहती है। यह आग अनादिकाल से जल रही है, कभी क्षण भर के लिये भी शांत नहीं हुई। इसलिये संसार के विषय में शास्त्रों में कहा है-

आलित्ते णं भंते ! लोए,
पलित्ते णं भंते ! लोए,
आलित्त-पलित्ते णं भंते ! लोए ।

अर्थात्—भगवन् संसार चहुँ ओर से जल रहा है, संसार प्रज्ज्वलित हो रहा है और बहुत तेजी के साथ जल रहा है।

संसार में राग और द्वेष की दोहरी आग जल रही है। कहीं राग की आग का संताप फैला हुआ है तो कहीं द्वेष का दावानल दहक रहा है। कोई प्रिय वियोग की विकट वेदना से व्याकुल बना हुआ है तो कोई अप्रिय-संयोग के कारण संताप अनुभव कर रहा है। इस प्रकार अखिल लोक में अशांति की आग दृष्टिगोचर हो रही है। इस व्यापक आग से छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर महत्वपूर्ण है और प्रत्येक विवेकवान् मनुष्य को वह उत्तर खोजने और जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

दु खरूपी दावानल से बचने के लिये लोग नाना प्रकार के उपाय किया करते है। एक तरह से देखा जाय तो प्राणीमात्र की तमाम चेष्टाओं का एकमात्र उद्देश्य यही है कि दुःख से बचा

जाय और सुख प्राप्त करने का उपाय किया जाय। दुःख क्या है और उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? यह विषय बहुत लम्बा है, पर संक्षेप में ही मैं यहां बतलाने का प्रयास करूंगा। आप गहराई से सोचेंगे तो मालूम होगा कि दुःख कोई स्थूल वस्तु नहीं है। दुःख न कांटों में है न बीमारी मे है, न तलवार-भाले में है और न दरिद्रता अथवा इष्ट और प्रिय समझे जाने वाले कुटुम्बीजनों के वियोग में है। दुःख तो मन की एक प्रकार की संवेदना है-भावना है। जब कोई मनुष्य किसी घटना को अप्रिय समझता है और उसके विषय में प्रतिकूल अनुभव करता है तो वही घटना दुःख का कारण बन जाती है। अगर उस घटना को प्रतिकूल अनुभव न किया जाय तो वह दुःख उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती। दुःख मन की भावना में है। जब मनोवृत्ति समभावमयी बन जाती है, संसार की कोई भी घटना और किसी बाह्य वस्तु का संयोग-वियोग मन पर असर डालने में समर्थ नहीं होती है। तब मनुष्य को दुःख का स्पर्श नहीं हो सकता। श्री उत्तराध्ययन शास्त्र में नमिराजर्षि का वर्णन आया है। नमिराज के वैराग्य की परीक्षा करने इन्द्र आता है और कहता है- राजन्! आपकी मिथिला नगरी जल रही है और आप चुपचाप यहां योग धारण कर बैठे हैं। जाओ, पहले मिथिला की आग बुझाओ और फिर दीक्षा लेकर साधु बनना। यह सुनकर नमिराज ने ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र से क्या कहा था? उन्होंने कहा—'मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचणं" अर्थात मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता।

यह वैराग्यमय समभाव की मुखरित वाणी है। जो साधक अपने आपको संसार के समस्त पदार्थों से पृथक अनुभव

करता है जो पर पदार्थों को अपना नहीं समझता और आत्मा के स्वभाव में ही रमण करने लगता है उसकी अंतरात्मा को बाह्य पदार्थों के निमित्त से होने वाले सुख-दुःख छू भी नहीं सकते हैं।

दुःखों के दावानल से बचने का सच्चा मार्ग यह है कि निर्ग्रन्थों के प्रवचनों की शरण ली जाय। राग द्वेष के दावानल को शान्त करने के लिये निर्ग्रन्थ प्रवचन लोकोत्तर अमृत वर्षा करने वाले मेघ के समान है। राग द्वेष का नाश हो जाने पर दुःख का सहज ही विनाश हो जाता है।

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क—
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

अन्वयार्थः—हे जगन्नाथ ! यस्य-जिस । पुंसः पुरुष के । हृदि-हृदय मे । त्वन्नामनागदमनी तुम्हारे नाम की नागदमनी जड़ी है, वह पुरुष । क्रमयुगेन-अपने पैरों से । रक्तेक्षणम् लाल नेत्र वाले । समदकोकिलकण्ठनीलम्-मदोन्मत्त कोयल के कंठ समान काले । क्रोधोद्धत-क्रोध से उद्धत हुए और । उत्फणम्-उठाया है उपर को फण जिसने ऐसे । आपतन्तम् डसने के लिये, झपटते हुए । फणिनम्-सांप को । निरस्तशङ्क-शंका रहित अर्थात निडर होकर । आक्रामति-उल्लंघन करता है अर्थात पांव देकर उसके उपर से चला जाता है ।

भावार्थ—हे जगत्पति ! आपकी नामरूपी नागदमनी जिस पुरुष के हृदय में विराजमान है, वह पुरुष अपने पैरों से ऐसे भयंकर सर्प को लांघ जाता है, जिसके नेत्र लाल-लाल हो रहे हैं, क्रोध से कंठ कोकिला समान काला हो गया है और डसने के लिए जिसने अपने फण को ऊंचा उठा रक्खा है वह सर्प भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता ।४१।

विवेचनः—भाइयों ! भगवान् ऋषभदेव के नाम में अपूर्व शक्ति है । मगर आपके अन्तःकरण में भगवान् के प्रति भक्ति होनी चाहिये, तभी वास्तविक फल की अभिव्यक्ति होती है । अपनी भक्ति के बिना सिर्फ ईश्वर की शक्ति से हमारा

निस्तार नहीं हो सकता। सूर्य प्रकाश फैलाता है, चन्द्रमा अपने सौम्य प्रकाश से जगत को आलोकित करता है, दीपक भी अपनी शक्ति के अनुसार अंधकार को दूर करता है. मगर इन सब प्रकाशो का लाभ वही उठा सकता है, जिसके नैत्र खुले हुए हों। अंधे के लिये यह सब प्रकाश व्यर्थ है वह इनसे कोई लाभ नहीं उठा सकता। मतलब यह है कि सूर्य का प्रकाश यद्यपि अंधकार को नष्ट कर देता है फिर भी अपने नैत्रों को तो खोलना ही पड़ेगा। इसी प्रकार भगवान् के नाम की शक्ति अपरिमित फल प्रदान करने वाली है, फिर भी भक्ति तो हृदय में होनी ही चाहिये। भक्ति के बिना फल को प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान का नाम सांप के जहर को भी दूर कर देता है। यह कोई अद्भुत बात नहीं है। क्योंकि भगवान् की शक्ति इससे भी बहुत बढ़कर है। भगवान् का नाम जपने से पापरूपी जहर भी, जो जन्मजन्मान्तर में मारने वाला होता है, नष्ट हो जाता है। सांप का विष एक ही जन्म में बेसुध बनाने वाला और प्राणों का अन्त करने वाला है, परन्तु पाप का विष न मालूम कितने भवों तक प्राणघातक कष्ट दिया करता है। जब भगवान् के नाम से पाप का विष भी दूर हो जाता है तो सांप का विष दूर हो जाय, यह कौन बड़ी बात है ?

भाइयो ! भगवान् के नाम में न जाने किस प्रकार का चमत्कार भरा हुआ है। नाम-मात्र का स्मरण भी मनुष्य को अनेक विपदाओं से बचा लेता है। ठीक ही कहा है:—

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ॥

हे जिनदेव ! आपके स्तवन की महिमा ऐसी विराट है कि वह मन के द्वारा चिन्तन में नहीं आ सकती। मगर आपका नाम भी संसारी जीवों को जन्म-मरण की चक्की में पिसने से बचा लेता है। जिनके नाम में इतनी जबरदस्त शक्ति है, उनका स्तवन कितना महान् फलप्रद न होगा ? और जो भगवान् का ध्यान करते हैं, उनका तो कहना ही क्या है ? वे तो तत्काल परमात्मा का पद पा लेते हैं:—

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनःक्षणेन !
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ॥

हे प्रभो ! हे जिनराज ! भव्यजीव आपका ध्यान करके क्षण भर में ही विदेह दशा प्राप्त करके परमात्मा का पद प्राप्त कर लेते हैं।

संसार के लोगो ! यदि सुख चाहते हो, आनन्द-मंगल चाहते हो और अमंगल से सदा के लिए बचना चाहते हो तो भगवान् का नाम जपो, प्रभु का गुण-कीर्तन करो, उनकी स्तुति में अपने मन को लीन कर दो। मगर ऐसा करते समय मन को स्वच्छ और पवित्र रक्खो ऐहिक कामनाओं से चित्त को दूषित मत होने दो। सुख में भी भगवान् को याद करो। प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु का नाम याद रखना चाहिए।

पूछा जा सकता है कि भगवान् आदिनाथ के भक्त में इस प्रकार की शक्ति किस प्रकार आ सकती है ? भगवान् के नाम के प्रभाव में भक्त में कैसे निर्भीकता आ सकती है ?

इस प्रश्न के उत्तर में अनेक बातें कही जा सकती है। सबसे पहली बात तो यह है कि भगवद् भक्त का चित्त इतना निर्मल और निष्कषाय हो जाता है कि प्राणीमात्र को वह अपना मित्र समझने लगता है। किसी भी प्राणी को वह अपना शत्रु नहीं समझता और इसी कारण किसी पर उसका द्वेषभाव या वैरभाव नहीं होता। जब वह पूरी तरह निर्वैर हो जाता है तो प्रतिपक्षी पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। जैसे किसी को क्रुद्ध देखकर सामने वाले के हृदय में भी क्रोध का आवेश आ जाता है, उसी प्रकार किसी को भी करूणाशील देखकर सामने वाले के हृदय में भी करुणा का संचार हो जाता है। कदाचित करुणा का सचार न भी हो तो भी उसकी क्रूरता तो उपशान्त हो ही जाती है।

भगवान् ऋषभदेव का सच्चा भक्त सर्प को देखकर उस पर हिंसक भावना नहीं लाता बल्कि वह उस पर भी करूणाशील रहता है, अहिंसक भाव जगाता है। इस भावना का सर्प पर भी प्रभाव पड़ता है और इस कारण वह उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। योगशास्त्र में कहा है:—

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

अर्थात् जहां अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, उसके आस-पास के जीव भी वैरभाव को छोड़ देते हैं।

भाइयों! अगर आपके अन्तःकरण में दया और प्रेम का स्रोत बहता होगा तो वह आपके विरोधी अन्तःकरण को भी

शीतल बना देगा। आपकी अहिंसा का झरना आपके प्रतिपक्षी के हृदय के वैर और क्रोध की आग को बुझा देगा। किसी ने कहा है:—

क्षमा शस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

अगर हाथ में क्षमा की ठंडी तलवार है तो दुष्ट से दुष्ट जीव भी आपका कुछ नहीं कर सकता। पानी में आग पड़ जायगी तो वह पानी को जला नहीं सकेगी, बल्कि स्वयं ही बुझ जायगी।

दूसरी बात यह है कि सांप किसी को डसता नहीं है, वह केवल बचाव भर करता है। फिर भी लोग विषधर और निर्विष सांप का अन्तर नहीं समझते और इस कारण सांप मात्र को ही देखकर डरते हैं। लोगों के इस डरपोकपन ने ही सांप को भयानक और क्रूररूप दे दिया है। जैसे मनुष्य सांप से डरता है वैसे ही सांप भी मनुष्य से डरता है। जिस मनुष्य के मन, वचन और काय में अहिंसा भरी हुई है, उसे देखकर सांप डरेगा नहीं और अगर डरेगा नहीं तो अपने बचाव के लिये वह डसने का प्रयत्न भी नहीं करेगा। ऐसी स्थिति में अगर भगवान का भक्त उसे सहज ही लांघकर चला जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवान् के नाम में स्वतः भी अलौकिक महिमा है। यह पहले भी बताया जा चुका है कि लोकोत्तर पुरुषों का सजीव

और निर्जीव प्रकृति पर लोकोत्तर असर पड़ता है। उस असर के कारण भगवान् का नाम रूप मंत्र अमोघ औषध का काम करता है अतएव ईश्वर की महिमा में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

वल्गत्तुरंगगजगर्जितभीमनाद—
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

अन्वयार्थः—हे जिनेश्वर ! आजौ–संग्राम मे । त्वत्कीर्त्तनात्–आपके नाम का कीर्तन करने से । बलबताम्-बलवान् । भूपतीनाम्–राजाओं का । बल्गतुरंगगजगर्जितभीमनाद्–युद्ध करते हुए घोडो और हाथियो की गर्जना से जिसमे भयानक शब्द हो रहे हैं, ऐसा । बलम्अपि–सैन्य भी । उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्ध–उदय हुए सूर्य की किरणो के अग्रभाग से नष्ट हुए । तमः इव अन्धकार के समान । आशु-शीघ्र ही । भिदाम्–भिन्नता को, नाश को । उपैति-प्राप्त होता है ।

भावार्थः—हे नाथ ! आपके गुणोत्कीर्त्तन से जिनके पास गुंजारव करते हुए हाथी व घोड़ों के समूह हैं ऐसा बलवन्त सैन्य भी तत्काल युद्धस्थल छोड़कर भाग जाता है । जैसे उदयमान सूर्य की किरणों के अग्रभाग मात्र से ही तम-राशि(अन्धकार का समूह) नष्ट हो जाता है, वैसे ही आपने गुणोत्कीर्तन से आक्रमणकारी दुष्टजन पलायन कर जाते हैं । ४०॥

विवेचनः—भाइयों ! कोई आदमी संग्राम में गया हुआ है, और वहां हाथियों की चिंघाड़, घोड़ो की हिनहिनाहट, रथों की झनझनाहट और पैदल सेना की सनसनाहट हो रही है । अनेक बलवान राजाओं की विशाल सेनाएं इकट्ठी हुई है । उन सेनाओं पर अस्त्र शस्त्रों द्वारा विजय प्राप्त करना कठिन है ।

ऐसे प्रसंग पर जो पुरुष सेना और शस्त्रों के बल व अभिमान को छोड़कर आपका कीर्तन करता है और आपकी शरण ग्रहण करता है उसके सामने वह विशाल सेनाएं उसी प्रकार भाग जाती है जैसे उगते हुए सूर्य की किरणों से अंधकार भाग जाता है। हे मरूदेवी के नन्दन ! हे नाभिकुल कमल दिवाकर ! आपके गुण-कीर्त्तन की अपरिमित महिमा है।

भाइयो ! यहां आचार्य महाराज ने दुनियावी संग्राम का जिक्र किया है। कभी-कभी दुनियावी संग्राम भी बड़ा लम्बा और भयंकर होता है। पर एक अन्य संग्राम हमारे भीतर भी सदैव चलता रहता है। वह संग्राम बड़ा ही भीषण और उग्र है। उस संग्राम के काल की भी आदि नहीं है। वह अनादिकाल से चल रहा है। प्रतिपल चल रहा है, कभी एक क्षण के लिये भी बन्द नहीं होता।

वह संग्राम कौन सा है ? उसके कई नाम दिये जा सकते हैं। आप उसे देव-असुर संग्राम कह लीजिए, आत्मा की स्वभाव-विभाव परिणतियों का युद्ध भी कह सकते हैं। इसे चेतनराज और मोह-मल्ल की लड़ाई भी कह सकते हैं। इस युद्ध की भूमि आपका अन्तःकरण है। यह अंतरंग संग्राम बड़ा ही लोमहर्षक है। वीतरागदेव को प्रदर्शक बनाकर आप आगे बढ़ो, विजय अवश्य ही होगी।

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह —
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे ।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा—
स्त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

अन्वयार्थः—हे देव ! कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह वेगावतारतरणातुरयोधभीमे—बरछी की नोको से छिन्न-भिन्न हुए हाथियो के रक्तरूपी जलप्रवाह के वेग-मे पडे हुए और उन तैरने के लिये आतुर हुए योद्धाओ से भयानक हो रहा है: ऐसे । युद्ध—युद्ध मे । त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणः—आपके चरणरूपी वन का आश्रय लेने वाले पुरुष । विजितदुर्जयजेयपक्षाः—नही जीता जा सके, ऐसे भी शत्रुओ को जीतते हुए । जयम्—विजय को । लभन्ते—प्राप्त करते हैं ।

भावार्थः—हे देव ! बरछियों की नोक से, भालों की अणियों से और तलवार की धार से छिन्न-भिन्न हुए हाथियों के रक्तरूपी प्रवाह के वेग मे पड़े हुए और तैरने के इच्छुक योद्धाओं से भयानक महायुद्ध में भी आपके चरण-कमल का आश्रय ग्रहण करने वाला भक्त जन पराजय नहीं पाता किन्तु ऐसे दुर्जय शत्रु पक्ष से भी जय प्राप्त करता है । ४३॥

विवेचनः—भाइयो ! कोई पुरुष संग्राम में गया हुआ है संग्राम बड़ा भीषण है । इतना भीषण की युद्ध भूमि में भालों की नोंक द्वारा छेदे-भेदे गये हाथियों के रक्त की धारा का प्रवाह नदी के जल की तरह वेग के साथ वह रहा है और उसे पार करना कठिन है । पर हे भगवन् ! जो लोग आपके चरण कमलों

का आश्रय लेते हैं, ऐसे घोर-अति घोर संकट के समय में जो आपका स्मरण करते है, वे दुर्जेय शत्रुओं पर सरलता से विजय प्राप्त कर लेते हैं।

भगवान् के नाम स्मरण की यह महिमा है। भगवान् के नाम स्मरण मे द. प्रकार की महिमा है—लोकोत्तर महिमा और लौकिक महिमा। यहां लौकिक महिमा का उल्लेख किया गया है। कहा जा सकता है कि लोकोत्तर महिमा की उपेक्षा करके आचार्य ने लोकिक महिमा का उल्लेख क्यों किया है?

इस प्रश्न के उत्तर में एक बड़ा रहस्य है। बहुत से लोग आत्म कल्याग के लिये वीतराग भगवान् का भजन करते है, परन्तु लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिये भैरों-भवानी आदि के सामने मस्तक रगड़ते हैं। उन्होने "व्यवहार खाते" की पूंछ पकड़ रक्खी है। उनका कहना है कि व्यवहार खाते में भैरों-भवानी की मान्यता और पूजा की जाती है। ऐसे लोगों की आँखें खोलने के लिये आचार्य महाराज ने यहां बतलाया है कि भगवान् ऋषभदेवजी का नाम स्मरण करने से लोकोत्तर प्रयोजन के साथ-साथ लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध हो जाते है। जब भगवान् के स्मरण से सभी प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है तो फिर उसके लिये अन्य देवों के आगे मत्था टेकने की क्या आवश्यकता है?

जिस प्रकार घी पाने के लिये दूध जमाया जाता है, मगर घी के साथ छाछ अनायास-आनुषंगिक रूप में प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार लोकोत्तर प्रयोजन की सिद्धि के लिये

भगवान् का नाम स्मरण किया जाता है किन्तु आनुषंगिक रूप में लौकिक प्रयोजन भी उससे सिद्ध हो जाते हैं। जैसे सिर्फ छाछ के लिये दूध जमाने वाला आदमी विवेकवान नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार सिर्फ लौकिक प्रयोजन के लिये भगवान् का नाम स्मरण करने वाला बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता है। मक्खन या घी को फैंककर छाछ ग्रहण करने वाला मूर्ख है, उसी प्रकार केवल लौकिक प्रयोजन को ग्रहण करने वाला भी मूर्ख है।

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ।
रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति ॥४४॥

अन्वयार्थः—हे जगदाधार ! भवतः-आपके । स्मरणात् स्मरण करने से । क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वणवाड़वाग्नौ -भीषण नक्र (मगर) चक्र, घड़ियाल, पाठीन (एक प्रकार की मछली) और पीठों से तथा भयंकर विकराल बडवाग्नि करके क्षुभित । अम्भोनिधौ-समुद्र मे । रंगतरंग शिखरस्थितयानपात्रा-उछलती हुई तरगो के शिखरों पर जिनके जहाज पडे हुए हैं. ऐसे पुरुष । त्रासविहाय आकस्मिक भय के बिना । व्रजन्ति चले जाते हैं अर्थात पार हो जाते हैं ।

भावार्थ—हे जगदाधार ! डरावने मगर मच्छों से भयंकर और बड़वाग्नि से क्षुभित समुद्र में तरंगों के शिखर पर पड़ा हुआ जहाज जो डालायमान हो रहा है ऐसा जहाज भी आपका स्मरण करने से किसी अकस्मात का सामना किये बिना ही कुशलपूर्वक पार हो जाता है, और वे मनुष्य अपनी समुद्र यात्रा सुख से पार कर लेते हैं ।४४॥

विवेचनः—भाइयो ! यह संसार भी समुद्र के समान है। जैसे समुद्र में खूंखार और जबरदस्त मगर-मच्छ, घड़ियाल आदि प्राणी होते है और उनसे बचना बहुत कठिन होता है, इसी प्रकार संसार मे नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख है। इनसे छुटकारा पाना अत्यंत कठिन है। जैसे समुद्र मे बड़-

वानल भड़कता रहता है उसी प्रकार संसार में इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदि के कारण संताप और परिताप होता रहता है। जैसे समुद्र में ज्वार और भाटा आता रहता है, उसी प्रकार संसार में हर्ष और विषाद की उत्ताल तरंगे उठती रहती है। जैसे समुद्र जहाज से पार किया जाता है, उसी तरह संसाररूपी समुद्र धर्म जहाज से पार किया जाता है। जहाज को चलाने के लिये कुशल नाविक की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार धर्म-जहाज को चलाने के लिये कुशल नाविक की आवश्यकता होती है। जहाज यदि ठीक न हो अथवा नाविक यदि कुशल न हो तो यात्री समुद्र में डूब मरता है इसी प्रकार मिथ्या धर्म और अज्ञानी पुरुष का संयोग होने पर भी प्राणी को भव सागर में डूबना पड़ता है।

इतना होने पर भी समुद्र में नाना प्रकार के रत्न पाये जाते हैं। इसी कारण उसे रत्नाकर कहते हैं। इसी तरह संसार में भी अनेक रत्न है। यहां साधु रत्न हैं साध्वियां रत्न है, श्रावक रत्न है और श्राविकाएं रत्न भी हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी रत्न कहलाये जाते है। धी-वर (ज्ञानी-पुरुष) प्रयत्न करके इन रत्नों को प्राप्त करते हैं, वे निहाल हो जाते है। इसी अपेक्षा से संसार को "संसार" कहा है। संसार शब्द का अर्थ है—सम्यक् सार वाला अर्थात् जिसमें अच्छा सार हो वह संसार है। निस्सार होने पर भी मोक्ष प्राप्ति के कारण यहां उपलब्ध हो जाते हैं, इसलिये संसार 'सं-सार' है।

भाइयो ! समुद्र या नदी को पार कर लेना कठिन नहीं है, मगर भव-सागर को पार कर लेना कठिन है। इसे पार करने

के लिये सद्‌गुरु की कृपा होनी चाहिये। सद्‌गुरु वही है जो मोह, माया, मद, मत्सर आदि को मार चुके है। जो कंचन और कामिनी का परित्याग करके अकिंचन बन गये हैं। जहाज वाले तो कल्दार लेते हैं, मगर सद्‌गुरु कल्दार नहीं चाहते और भवसागर से पार उतार देते है। अरे भाई! तुझे मुफ्त में पार करते हैं फिर क्यों मिजाज करता है?

भाइयो! संसार समुद्र से यदि कोई तिराने वाला है तो वह दया धर्म ही है। संसार का यों कोई पार नहीं है, वह आकाश की भांति असीम है, अनन्त है मगर जो धर्मरूपी जहाज का सहारा लेता है, वह उसे अनायास ही पार कर लेता है। धर्म रूपी जहाज के द्वारा ही आत्मा संसार के परले पार पहुँचने में समर्थ होता है।

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४५॥

अन्वयार्थः—हे जिनराज ! उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः-उत्पन्न हुए भयानक जलोदर रोग के भार से जो कुबड़े हो गये है, तथा । शोच्यां दशां-शोचनीय अवस्था को । उपगताः-प्राप्त होकर । च्युतजीविताशाः-जीने की आशा छोड़ बैठे हैं ऐसे । मर्त्याः-मनुष्य । त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा-तुम्हारे चरण कमल के रजरूप अमृत से अपनी देह लिप्त करके । मकरध्वजतुल्यरूपा-कामदेव के समान सुन्दर रूपवाले । भवन्ति-हो जाते हैं ।

भावार्थः—हे जिनेश्वर देव ! भयानक जलोदर आदि रोग के भार से जो झुक गये हैं (कुबड़े बन गये हैं) और शोचनीय दशा को प्राप्त होकर अपने जीवन की आशा छोड़ बैठे हैं, ऐसे मनुष्य भी आपके चरणकमल के रजरूपी अमृत से अपने शरीर को लिप्त करके अर्थात् आपके चरण कमलों की सेवा करके रोग रहित कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले बन जाते हैं ।४५॥

विवेचनः—भाइयो ! यदि किसी पुरुष के जलोदर जैसी भयानक बीमारी हो गई हो और पेट में पानी भर जाने से हाथ पैर गल गये हों और वह शोचनीय दशा को प्राप्त हो गया हो—मरणासन्न हो गया हो—वैद्यों ने बीमारी को असाध्य कहकर

चिकित्सा करना छोड़ दिया हो. किन्तु वही पुरुष अगर भगवान् के चरण कमल की धूल लेकर अपने शरीर पर मल ले तो अनायास ही उसकी सारी बीमारियां दूर हो जाती हैं। वह पुरुष कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाला हो जाता है। भगवान् के चरणकमल की धूल में ऐसी शक्ति है। उन्हीं भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो! अंतरंग कारण पाप का उदय और बहिरंग कारण अपथ्य-सेवन आदि का संयोग मिलता है तो कई प्रकार की बीमारियां लग जाती है। बीमारियां अनगिनती है। उनमे से जलोदर की बीमारी भी एक है। जलोदर सोलह महारोगों में से एक है। आयुर्वेद ग्रन्थों के अनुसार यह बीमारी प्रायः जूं के खा लेने से हो जाती है। इसलिये विवेकवान् और प्रमाद-हीन पुरुष और स्त्रियां ऐसा अवसर ही नहीं आने देती, जिससे गन्दगी के कारण कोई अनर्थ उत्पन्न हो।

आपादकण्ठमुरुशृंखलवेष्टितांगाः,
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः,
त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबंधभया भवन्ति ॥४६॥

अन्वयार्थः—अनिशम्–सतत। अपादकण्ठम्–पांव से लेकर कंठ पर्यन्त। उरुशृंखलवेष्टितांगा–बड़ी बड़ी साकलो से निरन्तर जकड़े हुए अंग वाले और। गाढ़म्–अत्यन्त। बृहन्निगड़कोटिनिघृष्टजंघा–बड़ी-बड़ी वेड़ियों के किनारो से जिनकी जंघाए अत्यन्त छिल गई हो ऐसे। मनुजाः–मनुष्य। त्वन्नाममन्त्रम्–आपके नामरूपी मन्त्र को। स्मरन्त–स्मरण करने से। सद्य–तत्काल ही। स्वयम्–आप से आप। विगतबंधभया–बंधन के भय से सर्वथा रहित। भवन्ति होते है।

भावार्थः—हे दयालु ! जिनका शरीर पांव से लेकर गले तक बड़ी-बड़ी सांकलों से जकड़ा हुआ है तथा बड़ी-बड़ी वेड़ियों के नोक से जिनकी जंघाएं छिल गई हैं, ऐसे मनुष्य भी आपके नामरूपी मंत्र का स्मरण करके तत्काल ही बन्धन के भय से छूट जाते हैं अर्थात मुक्त हो जाते है। ४६॥

विवेचनः—हे महाप्रभु ! कोई पुरुष किसी कारण कारागार में पहुंच गया हो, वहां पैरों से लेकर गले तक जंजीरों से जकड़ दिया गया हो और ऐसी जाड़ी वेड़ियां उसे पहिना दी गई हां कि उसकी जांघे छिलती हो और ऐसी काल कोठरी में रख दिया गया हो कि जहां हवा का प्रवेश भी कठिन हो, तो वहां उसकी पुकार सुनने वाला कौन है ? ऐसी संकटमय अवस्था में

वह विचार करता है कि यहां मैं किसके आगे पुकार करूं ? कौन मेरी सहायता करेगा ? सिवाय भगवान् के और कोई दीनों और दुःखियों का सहायक नहीं है। यह सोचकर वह भगवान आदिनाथ को याद करता है। 'ॐ ऋषभ' इस चार अक्षर वाले महामन्त्र का जाप करता है। भगवान के पावन नाम के स्मरण से ही तमाम हथकड़ियां और बेड़ियां तड़ातड़ टूट कर गिर पड़ती है। वह बन्धन से मुक्त हो जाता है और स्वतंत्र होकर, बरी होकर सानन्द अपने घर पहुँच जाता है।

हे भव्य पुरुषों ! भगवान् के नाम की अद्भुत महिमा है भगवान् के नाम की महिमा का फल उन्हीं को प्राप्त होता है; जो संसार के समस्त सहायक-साधनों से अपनी आस्था हटा कर केवल भगवान् के प्रति ही अनन्य श्रद्धा रखता है। जब तक दिल मे दुविधा है, प्रभु के पावन नाम का फल प्राप्त नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है कि आचार्य महाराज ने भगवान के नाम की जो महिमा प्रदर्शित की है, वह भक्तिमात्र है, प्रशंसा मात्र है। वास्तव मे भगवान् के नाम का जाप करने से हथ-कड़ियां और बेड़ियां टूट नहीं सकती। अगर टूट सकती हो तो आज कोई भी कैदी "नाम-जप" कर स्वाधीन क्यों नहीं बन जाता ?

इस प्रकार की शंका मे भगवान् के नाम की महिमा में अविश्वास छिपा हुआ है। जिनके हृदय में पूरी आस्था नहीं होगी, वही ऐसी शंका को अपने हृदय में स्थान देते हैं और

श्रद्धा न होने का कारण यह है कि उन्होंने कभी ऐसी सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न ही नहीं किया। श्रद्धापूर्वक प्रयत्न किये बिना ईश्वर की महिमा अनुभव में नहीं आ सकती। ऐसी स्थिति में ईश्वर की महिमा का अनुभव किये बिना जो प्रयत्न करना चाहते हैं उन्हे निराश होने के सिवाय और क्या हाथ लगने वाला है? ईश्वर की महिमा के अनेक प्रमाण शास्त्रों मे मौजूद है। सुदर्शन सेठ शूली पर चढ़ा दिये गये थे, पर किस भौतिक शक्ति ने शूली को सिंहासन बना दिया था? सती सीता को अग्निकुण्ड मे झौक दिया गया, पर ईश्वरी महिमा के सिवाय किसने उसकी रक्षा की थी? अमरकुमार के प्राण बचाने कौन गया था? चन्दनबाला की हथकड़ियां और बेड़ियां किस प्रकार तड़ाक से टूट गई थी? शास्त्रों में ऐसे बहुत से दृष्टांत मौजूद है, जिनसे पता चलता है कि परमात्मा के नाम का, एकाग्र भाव से जप किया जाय तो संसार की भीषण से भीषण शक्ति भी परास्त हो जाती है। अतएव भगवान् के अलौकिक नाम के माहात्म्य के विषय में शंका की गुंजाइश नहीं है।

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि—
संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

अन्वयार्थ—यः–जो । मतिमान्–बुद्धिमान । इमम् इस । तावकं–तुम्हारे । स्तवम्–स्तोत्र को । अधीते–अध्ययन करता है । तस्य–उसके । मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदावानलाहि संग्राम वारिधि महोदरबन्धनोत्थम्–हाथी सिंह, अग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, महोदर रोग और बन्धन इन आठ कारणो से उत्पन्न हुआ । भयम्-भय । भियाइव–डर कर ही मानो । आशु-शीघ्र ही । नाशम्–नाश को । उपयाति–प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थः—हे दीनबन्धु ! जो बुद्धिमान आपके इस स्तोत्र का अध्ययन (पाठ) करते हैं, वह उक्त आठ संयोगों से उत्पन्न हुए भय से रहित होकर निर्भय हो जाते हैं अर्थात जो अड़तीसवें श्लोक से छियालीसवें श्लोक (३८ से ४६) तक बताये गये हैं, वे भय के कारण स्वयं उससे भयभीत होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ।'४७॥

विवेचनः—हे महाप्रभु ! जो आपकी स्तुति करता है, वह सब प्रकार के भयों से रहित हो जाता है । वह भय चाहे मदोन्मत्त हाथी से उत्पन्न हुआ हो, चाहे सिंह से, दावानल से, सर्प से, संग्राम से, समुद्र से या जलोदर जैसी किसी बीमारी से उत्पन्न हुआ हो । जो ज्ञानवान् पुरुष आपको हृदय से स्तुति करता है, उसके समस्त भयों का नाश हो जाता है । आपकी

स्तुति करने से आत्मा में एक दिव्य-बल प्रकट होता है। उस बल के प्रभाव से सभी प्रकार के भय-ही मानों भयभीत होकर भाग जाते हैं।

भाइयों! भगवान् के नाम स्मरण से और उनके गुणों की स्तुति करने से हाथी, सिंह, दावानल, सर्प संग्राम, समुद्र, जलोदर आदि के संकट किस प्रकार दूर हो जाते है, यह बात आचार्य महाराज ने पहले भिन्न-भिन्न पद्यों मे बतलाई है। इस पद्य में उन सब का संग्रह कर दिया है।

कहा जा सकता है कि जो बातें पहले कही जा चुकी हैं उन्हें फिर दोहराने की क्या आवश्यकता है। इस कथन के उत्तर में दो बातें समझनी चाहिए। पहली बात तो यह है कि साहित्य में पुनरुक्ति को अर्थात् एक बार कही हुई बात को दुबारा कहने में दोष जरूर माना गया है, परन्तु स्तुति में पुनरुक्ति दोष नहीं गिना जाता। भक्त अपने भगवान् के एक-एक गुण की बार-बार प्रशंसा करता है। वह इस प्रकार अपने हृदय को निर्मल बनाता है, चित्त को पवित्र करता है, अतएव स्तुति में पुनरुक्ति दोष नहीं है। दूसरी बात यह है कि पहले आचार्य ने एक-एक भय का निवारण होना बतलाया था। उससे किसी को यह ख्याल हो सकता था कि भगवान् की स्तुति से वही भय दूर होते हैं, जिनका यहां कथन किया गया है। मगर संसार में भय बहुत और भय के कारण भी बहुत है। उन सबका नाम ले-लेकर उल्लेख करना और स्तुति से उनके दूर होने की बात कहना संभव नहीं है। अतएव यहां अनेक भयों के निवारण का उल्लेख करके यह सूचित कर दिया गया है कि कोई भी भय क्यों न हो भगवान्

की स्तुति से वह अवश्य दूर हो जाता है। यहां जिन भय के कारणों का उल्लेख किया है, वे उपलक्षण मात्र है-सिर्फ सूचना मात्र है। उनसे सभी भयों के कारणों को जान लेना चाहिये।

अभी अभी स्तुति का जो पद्य आपको सुनाया गया है, उसमे एक पद ध्यान देने योग्य है। वह पद है 'मतिमान'। आचार्य महाराज कहते है कि जो मतिमान् अर्थात विवेकवान पुरुष भगवान की स्तुति करता है, उसके भय दूर हो जाते हैं। ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है? क्या भगवान की स्तुति करने से बुद्धिमानों को लाभ होता है और बुद्धिहीनों को लाभ नहीं होता? अगर ऐसा है तो क्या भगवान के दरबार में पक्षपात होता है? उस औषध का क्या महत्व है जो पक्षपात करके किसी को लाभ पहुँचावे और किसी को न पहुँचावे? भगवान् वीतराग है प्राणी-मात्र को समान भाव से देखने वाले है। अगर वहीं पक्षपात होने लगा तो कहना होगा कि जल में आग लगी और अगर किसी वस्तु में आग लगती है तो जल से बुझाई जाती है, मगर जल मे लगी हुई आग किससे बुझाई जाय?

बात ठीक है। भगवान् के दरबार मे पक्षपात नहीं होना चाहिये। किन्तु वीतराग के दरबार में पक्षपात है भी तो नहीं! पक्षपात नहीं है, इसी कारण भगवान् वीतराग है। पक्षपात होता तो उन्हें वीतराग की पदवी प्राप्त नहीं होती। फिर भी उनकी स्तुति करने से ज्ञानी ही लाभ उठाते हैं, अज्ञानी लाभ नहीं उठाते। इसमें न तो भगवान् का दोष है और न भगवान् की स्तुति का ही दोष है। अगर दोष किसी का है तो अज्ञानी के अज्ञान का दोष है। सूर्य उगता है सारे संसार में प्रकाश फैलाने

के लिये। जीवमात्र को वह प्रकाश देता है। मगर लोग समान-रूप से उस प्रकाश का लाभ नहीं उठाते। जिनकी आंखे नहीं है, वे सूरज की रोशनी से लाभ नहीं उठाते। सूरज उन्हें रोकता नहीं है। वह उन्हें नहीं कहता कि तुम मेरी रोशनी स फायदा मत उठाओ। मगर जो अंधे है, उनमें लाभ उठाने की शक्ति ही नही है। इसमें सूर्य का क्या दोष है? सूर्य को पक्षपाती कैसे कहा जा सकता है?

जो सूर्य के प्रकाश से लाभ उठाते हैं, वे भी द प्रकार के है—भ्रम मे पड़े हुए अज्ञानी और ज्ञानी। कई अज्ञानी सूर्य के प्रकाश का उपयोग शिकार करने मे करते है, चोरी करने में करते हैं या किन्हीं और पापों का आचरण करने मे किया करते हैं ऐसे लोग समझते तो यही है कि उन्होंने प्रकाश से लाभ उठाया है, पर दरअसल देखा जाय तो उन्होंने लाभ नहीं उठाया, हानि ही उठाई है। सूरज की रोशनी पाकर उन्होंने अपनी आत्मा को उज्ज्वल नहीं बनाया, वरन् पाप का आचरण करके आत्मा को कलुषित और अंधकारमय बनाया है। ऐसे लोग पुण्य मे प्राप्त सब साधनों को पाप का हेतु बना लेते हैं। मगर जो ज्ञानवान् है, वे ऐसा नहीं करते। वे सूर्य प्रकाश से सच्चा लाभ उठाते हैं। वे प्रकाश में देख-देख कर चलते हैं, जिससे किसी जन्तु की हिंसा न हो जाय। शास्त्रों का पठन-पाठन करते हैं तथा इसी प्रकार से आत्मा को उज्ज्वल करने के अन्य काय करते हैं।

मतलब यह है कि जैसे सूर्य का प्रकाश सबके लिए फैलता है, फिर भी अज्ञानीजन उससे वास्तविक लाभ नहीं उठाते

और ज्ञानवान् लाभ उठाते है। इसी प्रकार भगवान् की स्तुति सबके लिये समान लाभदायक होने पर भी ज्ञानवान्;मतिमान् पुरुष ही उसमें लाभ प्राप्त करते हैं, मतिहीन लोगों को उससे लाभ नहीं होता।

यह बात सूचित करके आचार्य महाराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भक्त को विवेकशील होना चाहिये। अगर वह विवेक के बिना स्तुति करेगा तो स्तुति का वास्तविक फल उसे प्राप्त न होगा। भगवान् की स्तुति का वास्तविक फल आत्मा की विशुद्धि होती है। इस फल की उपेक्षा करके जो सांसारिक लाभ के लिये, धन-संपत्ति पाने के लिये, अपने शत्रु का विनाश करने के लिये अथवा विषय-वासना तृप्ति के लिये स्तुति करता है, वह वैसा ही अज्ञानी है जैसे सूर्य के प्रकाश को पाकर शिकार खेलने वाला। उसके विषय में यही कहा जायगा कि उसने भगवान् की स्तुति का मर्म नहीं जाना, भगवान् की स्तुति का सही और पूरा लाभ नहीं उठाया।

जिस वस्तु से महान लाभ की प्राप्ति हो सकती है, उससे तुच्छ लाभ उठाने वाला बुद्धिमान् नहीं कहला सकता। विवेकशील भक्त पुरुष को लोकोत्तर कल्याण आत्मा के वास्तविक हित के लिये ही वीतराग प्रभु की स्तुति और वंदना करना उचित है। सांसारिक लाभ तो तुच्छ है। वे स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। मगर जो इन्हीं के लिये स्तुति करता है, उसे लोकोत्तर लाभ नहीं होता। ऐसा करने वाला चिन्तामणिरत्न को कौवा उड़ाने के लिये फैंकता है।

भाइयो ! विवेक बड़ी चीज है। विवेक अगर प्राप्त हो गया तो आप 'प्रत्येक परिस्थिति में आत्मा को ऊंचा उठाने वाला कार्य कर सकेंगे। विवेक के अभाव मे ही आत्मा भव-भ्रमण कर रहा है। अगर आप आत्मा के वास्तविक और स्थायी कल्याण के मार्ग पर चलना चाहते हैं तो सबसे पहले आपको विवेक की आवश्यकता होगी। इसलिये प्रभु ने फरमाया है कि "विवेक में ही धर्म है।" इसी अभिप्राय से आचार्य महाराज ने स्तुति में "मतिमान्' शब्द का प्रयोग किया है।

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—जिनेन्द्र–हे जिनेन्द्र । इह–इस ससार मे । मया–मेरे द्वारा । भक्त्या–भक्तिपूर्वक । गुणै -आपके अनन्त ज्ञानादि गुणो से । निबद्धां गु थी हुई । रूचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् मनोज्ञ आकारादि वर्णो के यमक श्लेष अनुप्रासादिरूप विचित्र फूलो वाली और कठगताम्–कठ मे पडी हुई । तव तुम्हारी इस । स्तोत्रस्त्रजम्–स्तोत्ररूपी माला को । यः-जो पुरुष । अजस्रम्-सदैव । धत्ते–धारण करता है तम्–उस मानतुंगम–आदरणीय पुरुष को । लक्ष्मी -राज्य, स्वग, मोक्ष और सत्काय रूप लक्ष्मी । अवशा–विवश होकर । समुपैति-प्राप्त होती है ।

भावार्थः—हे जिनेन्द्र भगवान् ! भक्तिपूर्वक आपके गुणों की मेरे द्वारा गूंथी हुई मनोज्ञ ओर विचित्र फूलों की माला-रूप इस स्तोत्र को जो बुद्धिमान पुरुष अपने कठ में धारण करता है, उस मानतुंग अर्थात विवेक से ऊंचे पुरुप को लक्ष्मी विवश होकर वरती है यानि लाचार होकर उस पुरुप के पास आती है । (यहां लक्ष्मी का अर्थ केवल धन ही नहीं, परन्तु राज्य, स्वर्ग मोक्ष तथा सुयश आदि अनेक अर्थ है) ऐसा पूज्य आचार्य मानतुंग फरमाते हैं :

विवेचनः—प्रभो ! स्तोत्ररूपी यह माला मैंने भक्ति से प्रेरित होकर बनाई है । यह गुणों से बनी है । गुण शब्द के

संस्कृत में दो अर्थ हैं (१) रस्सी या डोरा और (२) सद्‌गुण। फूलों की माला बनाई जाती है और स्तोत्ररूपी यह माला भगवान् के सद्‌गुणों से बनी है। माला में भांति-भांति के रंगों के फूल होते हैं और स्तोत्ररूपी माला में नाना प्रकार के वर्णों (अक्षरों) का उपयोग किया गया है। जो पुरुष माला को अपने कंठ में धारण करता है, उसकी श्री-सुन्दरता बढ़ जाती है। इसी प्रकार जो भद्र पुरुष इस स्तोत्ररूपी माला को कंठस्थ कर लेते है, उसे श्री-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

आचार्य महाराज ने यहां लक्ष्मी के लिये "अवशा" विशेषण का प्रयोग किया है। "अवशा" कहने का प्रयोजन यह है कि पुरुष शुद्ध अन्तःकरण से जिनेन्द्रदेव की स्तुति करता है, उसे लक्ष्मी की कामना नहीं करनी पड़ती। लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। भगवान् की भक्ति से पुण्य की प्रबलता होती है और पुण्य की प्रबलता के कारण लक्ष्मी उसे स्वयं प्राप्त हो जाती है। विवश-लाचार होकर लक्ष्मी भक्त के पास आती है। भक्त उसकी कामना नहीं करता, फिर भी लक्ष्मी उसके पैरों में लौटती है। भगवान् का सच्चा भक्त भगवान् की ही आराधना करता है, उसका हृदय प्रभु को ही समर्पित होता है। परमात्मा ही उसका एकमात्र आराध्य है, फिर भी उसे लक्ष्मी घेरे रहती है।

शुद्ध भक्ति निष्काम भाव से ही होती है। आप निष्काम भाव से भक्ति करेंगे तो लक्ष्मी प्राप्त करने का मार्ग आप ही खुल जायगा। वह आप ही आकर आपको खोज लेगी। जैसे परछाई से विमुख होकर आप चलते है तो परछाई आपका पीछा करती

है, उसी प्रकार आप लक्ष्मी से विमुख होकर भगवद् भक्ति करेंगे तो लक्ष्मी आपका पीछा करेंगी। इसके विरुद्ध जैसे परछाई को पकड़ने के लिये दौड़ने वाला व्यक्ति कभी अपनी परछाई को नहीं पा सकता, उसी प्रकार लक्ष्मी-लक्ष्मी करने वाला और उसके पीछे-पीछे मारा-मारा फिरने वाला पुरुष लक्ष्मी को नहीं पा सकता।

भाइयो! भगवान् की भक्ति में, स्तुति में ऐसा अनोखा आकर्षण है कि लक्ष्मी सहज ही खींची चली आती है। आचार्य महाराज ने "अवशा" विशेषण देकर यह बात स्पष्ट कर दी है।

स्तोत्र के इस पद्य में विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करने वाला एक शब्द और है—"अजस्रम्"! "अजस्रम्" कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् के प्रति निरन्तर भक्ति जागृत रहनी चाहिये। प्रत्येक क्रिया करते समय भगवान् का स्मरण चित्त में बना रहेगा तो चित्त में अपूर्व जाग्रति आ जायगी। उसमें मलीन भावनाओं को स्थान नहीं मिलेगा। जीवन पवित्र बनता चला जायगा।

स्तुति में बतलाया गया है कि भगवान् की स्तुति करने वाले को लक्ष्मी प्राप्त होती है। मगर जानना चाहिये कि लक्ष्मी किसे कहते हैं। लक्ष्मी दो प्रकार की होती है। (१) द्रव्य-लक्ष्मी—रूपया, पैसा, महल आदि पौद्गलिक सम्पत्ति द्रव्य कहलाती है और (२) भावलक्ष्मी—यह आत्मिक संपत्ति है। इसे प्राप्त करने के लिये सिर्फ इतना करना पड़ता है कि आत्मा पर पड़े हुए पर्दों को प्रयत्न करके हटा दिया

जाय। यह सम्पत्ति एकान्त सुख देने वाली है और सदैव सुख देने वाली है। परलोक मे भी वह साथ देती है। वह अनन्त और अक्षय आनन्द प्रदान करने वाली है।

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करने से, उनके पवित्र नाम का स्मरण करने से दोनों प्रकार की संपत्ति प्राप्त होती है।

भगवान् के भजन, स्मरण या स्तवन का अर्थ क्या है? जीभ से ऋषभदेव, ऋषभदेव रट लेना ही भगवान का सच्चा भजन नहीं है। मगर उनके बतलाये हुए पथ पर चलना भी आवश्यक है। अन्तःकरण से भगवान् के पथ को हितकर समझकर उस पर यथाशक्ति चलने से कल्याण होता है। शास्त्रों में लिखा है कि अरिहंतों के गुणग्राम करता हुआ जीव कर्मों की कोटि खपाता है और उत्कृष्ट रसायन आवे तो तीर्थंङ्कर गोत्र बाँधता है। भगवान् के गुण गाना ही भगवान् बनना है।